

माँ, मैं कलेक्टर बन गया

एक बाल मजदूर के कलेक्टर
बनने की कहानी



VISIT...

LANZAROTE
Caliente.COM

माँ, मैं कलेक्टर बन गया

राजेश पाटील



प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

ISO 9001:2008 प्रमाणित

दो शब्द

‘ताई मी कलेक्टर व्हयून’ नामक मेरी आत्मकथा 30 नवंबर, 2008 को मराठी में प्रकाशित हुई। पाँच वर्षों की अवधि में यह पुस्तक महाराष्ट्र के सभी जिलों में पहुँच गई। पाठकों ने इसका स्वागत किया। मेरे निजी अनुभवों को, भावों को तथा मेरी लेखन-शैली को पाठकों ने खूब सराहा। पत्रों, इ-मेल तथा मोबाइल के जरिए पाठकों ने अपनी भावनाएँ मुझ तक पहुँचाईं। कई पाठकों ने ऐसा भी लिखा है कि एक बार हाथ में पुस्तक आ जाने के बाद, एक ही बैठक में उन्होंने इसे पूरा पढ़ डाला। वे इस पुस्तक के आशय से अभिभूत हो गए और उसे औरों को पढ़ने के लिए प्रेरित भी किया। कईयों ने इस पुस्तक की प्रतियाँ उपहार के तौर पर भी दीं। मराठी में इस पुस्तक के कई संस्करण छपे हैं। आज भी मुझे पाठकों की ओर से पत्र आते रहते हैं। उनकी प्रतिक्रियाएँ इ-मेल तथा फेसबुक पर निरंतर मुझे प्राप्त होती रहती हैं। मुझे अत्यधिक खुशी इस बात से हुई कि आज की तरुणाई ने इस पुस्तक के आशय को अच्छी तरह से समझा और अपने विचार मुझ तक पहुँचाए। कठिन-प्रतिकूल परिस्थिति को मात देकर आगे बढ़ने के मेरे प्रयास ने उन्हें बड़ी प्रेरणा दी है और वे भी इसका अनुसरण अवश्य करेंगे, ऐसा उनका वादा है। जब इन विचारों को मैं पढ़ता हूँ तब मुझे विश्वास हो जाता है कि अपने लेखन के उद्देश्य में मैं सफल हो रहा हूँ और मैं बेहद खुशी का अनुभव करता हूँ।

मेरे वे मित्र, जिनकी मातृभाषा मराठी नहीं है, उन्होंने मुझ से आग्रह किया कि इस पुस्तक का हिंदी और अंग्रेजी में अनुवाद होना चाहिए। उनके अनुसार, इस पुस्तक में कथित आशय कालातीत है, वह व्यक्तिसापेक्ष भी नहीं है। गरीबी और असुविधाओं का दायरा सिर्फ महाराष्ट्र के गाँव खेड़ों तक ही सीमित नहीं है वरन् सारे देश की यह घोर समस्या है। ‘स्पर्धा परीक्षाओं’ की रचना और उनमें सफलता प्राप्त करने में उपजने वाली समस्त समस्याओं का सही-सही वर्णन (मीमांसा) इस पुस्तक में है, परंतु यह पुस्तक केवल स्पर्धा परीक्षाओं के परीक्षार्थियों के लिए नहीं लिखी गई है। यह पुस्तक हमारी ग्रामीण जनता की गरीबी, अभाव, शिक्षा का निम्न दर्जा तथा स्वार्थ एवं संघर्ष का एक आईना है। भारत के ग्रामीण इलाके के 70 प्रतिशत लोगों की लाचारी एवं पस्त हालत में जी रहे परिवारों की यह एक प्रातिनिधिक कहानी है। यह लेखन उनकी समस्त समस्याओं का उजागर करनेवाला है। इस अभिव्यक्ति में निडरता है। सकारात्मक विचारों के साथ-साथ समाज की भलाई का चिंतन भी है, जो किसी भी भले एवं समझदार पाठक के मन में बैठ जानेवाला है।

अपने दोस्तों का प्रस्ताव मुझे जँच गया और इस दिशा में मैं प्रयत्नशील हो गया। इसी दौरान मेरे मित्र डॉ. संग्राम पाटील ने पुणे की श्रीमती मीरा नांदगाँवकरजी का नाम इस कार्य के लिए सुझाया। मैंने अपनी मराठी किताब

संग्राम के हाथों उन तक पहुँचा दी और उन्होंने अनुवाद के लिए स्वीकार कर ली। श्रीमती मीराजी हिंदी में अनुवाद करने का कार्य पिछले 25 वर्षों से कर रही हैं। बहुत ही कम समय में उन्होंने अनुवाद का कार्य पूरा किया। मीरा काकी एवं अशोक नांदगाँवकरजी ने पूरे उत्साह के साथ यह काम किया। उनकी असीम स्नेह की वजह से मैं आभार मानने के बजाय सदैव उनके ऋण में रहना ही पसंद करता हूँ।

इस पुस्तक के छपवाने में मुझे मेरे दिल्ली निवासी दोस्त टेकचंद सोनावणे तथा राजीव तुला ने बहुत मदद की। प्रकाशक को खोजना, पांडुलिपि को उन तक पहुँचाना आदि जैसे महत्वपूर्ण कामों में मुझे उनकी बड़ी सहायता मिली। अंत में मैं अपने 'अपनों' के लिए क्या कहूँ—मेरी पत्नी स्मिता, मेरे परिवारजन, डॉ. संग्राम पाटील एवं डॉ. नूपुर पाटील के निरंतर प्रोत्साहन की वजह से इस अनुवाद को 'मूर्त रूप' प्राप्त हुआ है।

मैं अपने शुभचिंतकों, प्रशंसकों तथा मुझसे जुड़े उन तमाम लोगों का आभारी हूँ, जिनकी चाह ने इस पुस्तक के प्रकाशन का मुझसे आग्रह किया।

—राजेश पाटील (IAS)

बारिपदा, ओडिशा

गाँव प्रशासन

महाराष्ट्र के जलगाँव जिले में एक तहसील है एरंडोल। एरंडोल से बस में बैठ जाइए, ऊबड़-खाबड़ सड़क पर चल रही बस में धक्के खाते हुए, सड़क को गालियाँ देते हुए करीब आधे घंटे में आप मेरे गाँव 'ताडे' पहुँच जाएँगे, जो पद्मालय पहाड़ी के तले बसा है।

बड़े-बड़े वृक्षों की ओट में इस कदर छिपा है मेरा गाँव कि उसके नजदीक पहुँचने पर भी आभास नहीं होता है कि यहाँ कोई गाँव बसता है। आराम करते हुए किसी सुस्त अजगर की तरह शांतिमय प्रतीत होता है मेरा गाँव। कभी-कभार आपसी छोटा सा लड़ाई-झगड़ा, हाथापाई का शोर सुनाई दे जाता है, परंतु वह भी थोड़ी देर के लिए। फिर वही नीरवता। यदि दोपहर में आप हमारे गाँव में एक चक्कर लगाएँ, तो पाएँगे दो-चार ऊँघते कुत्ते, बड़े वृक्ष की छाँव में बैठे बतियाते कुछ बूढ़े लोग। दो-तीन महिलाएँ। बाकी चारों ओर मात्र सन्नाटा। भरी दोपहरी में यदि बाहर से कोई मेहमान अथवा सरकारी मुलाजिम आ जाता है, तब उसे शाम तक सिर्फ एक ही काम होता है—लगातार तमाखू भरा पान चबाते हुए टाइम पास करो।

भले ही गाँव छोटा है परंतु फैला हुआ है। पूरब की सीमा से गाँव के दूसरे सिरे तक फैली है गड़रियों की बस्ती। दक्षिण में है हनुमानजी का पार और पार के निकट है पंचायत, दूध की डेरी और हरिजनों की बस्ती। उत्तर में है भीलों का बाड़ा और बाड़े के पीछे है स्कूल। गाँव की तमाम गलियाँ कतारों में हैं, जिनमें बने हैं छोटे-छोटे खूबसूरत घर। गाँव की सुडौलता में एकाध बेडौल घर भी झलक जाता है। गाँव के दक्षिण तथा पश्चिम में खाली जगह है, जिसमें खलिहान हैं और दँवरी भी। कहीं-कहीं घूरे भी हैं। पुराने जमाने में जहाँ अधिकतर खलिहान होते थे, उस जगह पर अब कुछ लोगों ने पैतृक संपत्ति के नाम पर अपना अधिकार जमा लिया है। गाँव के उत्तर तथा दक्षिण भाग में प्राकृतिक रूप से ढलान होने की वजह से बारिश का पानी तथा गटरों में बहता पानी बिना किसी अवरोध के पंचायत इमारत के पीछे बने गड्ढे में इकट्ठा हो जाता है। पंचायत के सामने खुला मैदान है, जहाँ कभी मदारी, बाजीगर, सपेरे आदि अपना खेल-तमाशा दिखाते हैं। कभी-कभी वहाँ नाम संकीर्तन भी होता है। इसी जगह पर कभी-कभी किसी लुहार अथवा मदारी का डेरा भी होता है। बाहर से आए मेहमानों को गाँव का रूप लुभावना लगता है। मेहमान का पहला स्वागत करता हुआ विशाल पार, पार पर बना सुंदर मंदिर और मंदिर में स्थापित आकर्षक मूर्तियाँ मेरे गाँव की शान हैं।

गाँव में हरिजनों के सिर्फ चार परिवार बसते हैं। वे सभी आपस में रिश्तेदार हैं। इनाम में मिली जमीन के अलावा वे टोकरियाँ बुनते हैं, बाजा बजाते हैं और

बकरियों-मुरगियों को पालते हैं, जो इनके जीवनयापन के साधन हैं। उनमें से एक परिवार के कुछ लोग थोड़ा-बहुत पढ़-लिख गए हैं और गाँव से दूर कहीं नौकरी भी करते हैं। वे जब कभी-कभार सूट-बूट पहनकर गाँव में आते हैं, उनके नातेदारों के सीने शान से फूल जाते हैं। गाँव के लोगों के मन में इन लोगों के प्रति भेदभाव की भावना नहीं है, फिर भी उनसे कोई खास लगाव भी नहीं है।

वैसे तो भीलवाड़ा गाँव से सटा हुआ है, फिर भी अलग-थलग ही है। भीलों के घर—यानी एक छतवाला एक कमरा। अत्यधिक गरीबी, फिर भी जीने का ढंग अलमस्त ही! वे सिर्फ प्रत्येक दिन को जीने का तरीका जानते हैं। उन्हें आनेवाले कल की कोई भी फिक्र नहीं होती है। मजूदरी करना, खेत की रखवाली करना और देसी शराब बनाने-बेचने का काम करना ही उनकी आजीविका का साधन है। सप्ताह के छह दिन मेहनत करते हैं और इतवार के दिन जोड़ी से सिनेमा देखना, गोश्त, मछली, मटन खाना और मौज-मस्ती करना उनका रिवाज है। उस दिन भील अपने मालिक का नौकर कदापि नहीं रहता है। उनमें से कई लोगों की आजीविका कैसे चलती है, मेरे लिए तो यह एक पहेली ही रही है। भीलों में विवाह भी बड़े आनंदोत्सव में होते हैं। नाचना, गाना, खूब दारू-पीना और मौज-मस्ती करना, विवाह समारोह में अनिवार्य सा है। सशक्त, हट्टे-कट्टे होते हुए भी भील लोग अनपढ़-गँवार होते हैं। कोई एकाध जरा-सा पढ़ना-लिखना जानता भी होगा, तब भी नौकरी पेशे से यह समाज कोसों दूर है। इन सबके बावजूद सारा भील समाज अत्यधिक स्वाभिमानी भी है।

परंतु मेरे परिसर का गड़रिया समाज सर्वथा भिन्न है। खेती और पशुपालन उनका मुख्य पेशा है। भले ही यह समाज पढ़ा-लिखा नहीं है परंतु वह बढ़िया किसान है। उत्तम व्यावसायिक भी है। वह खूब मेहनती होने की वजह से आर्थिक तौर पर सबल है। व्यसनहीन, मेहनती और फिजूलखर्ची न होने की वजह से बहुत कम समय में यह समाज उन्नति करता दिखाई देता है। उनके इन गुणों को कौतूहल, उपहास और कभी-कभी ईर्ष्या की नजर से देखा जाता है।

गाँव में नाइयों के चार परिवार हैं और ब्राह्मणों का एक मात्र परिवार है। सभी जातियों के बीच बंधुभाव है, आपसी हँसी-मजाक भी चलता है, परंतु चुनाव अथवा कोई आपसी विवाद उत्पन्न हो जाने पर प्रत्येक जाति अपना आपसी बैर त्यागकर एकजुट हो जाती है और सामनेवाले को मजा चखा देती है।

गाँव की स्त्रियाँ, पुरुषों से कहीं अधिक मेहनती हैं। घर के कामकाज को अच्छी तरह से सँभालते हुए वे अपने पति के व्यवसाय में भी (खेती में) मदद करना अपना धर्म समझती हैं। कुछ संपन्न परिवारों की महिलाओं के अलावा और सभी परिवारों की स्त्रियाँ खेत में काम करती दिखाई देती हैं। वैसे कीर्तन, विवाह और धार्मिक समारोहों में वे एकत्रित अवश्य होती हैं, परंतु खेतों, खलिहानों में उनका एकत्रित होना आम बात है। जिन घरों में पुरुषजन निठल्ले हैं, वहाँ परिवार की समस्त जिम्मेदारियों का वहन घर की स्त्रियाँ ही करती हैं।

ऐसी हालत में कई माताएँ अपने छोटे-बड़े बच्चों सहित खेत पर मेहनत करती दिखाई देती हैं। कुछ घर तो ऐसे भी हैं जहाँ परिवार घर की स्त्री के 'पुरुषार्थ' पर चलता है। अधिकतर परिवारों में घर का प्रबंध महिलाओं के अधीन चलता है। कुछ परिवारों में सास द्वारा अथवा शराबी पति के द्वारा महिलाएँ पीड़ित होती दिखाई देती हैं।

गाँव में हरिजन बस्ती, भीलवाड़ा और गड़रियों की बस्ती को छोड़कर अन्य मात्र चार परिवारों के आपसी रिश्तेदार बसते हैं। प्रत्येक परिवार अपने आपको ब्रह्मदेव के खानदान का सदस्य समझता है! इसी भावना के फलस्वरूप गाँव के किसी परिवार में अपने ही समाज में अब तक कोई आपसी विवाह हो नहीं पाया है। 'हमारे खानदान से वह निचले खानदान का है', इसी दृढ़ भावना के तहत प्रत्येक परिवार सिर्फ अपने आपको श्रेष्ठतम समझता है। वैसे तो सारे परिवार उद्यमी हैं, फिर भी गाँव में समृद्धि नहीं है। सीमेंट से बने दो-चार पक्के घरों में बसनेवाले परिवारों के अलावा करीब-करीब सभी लोग कर्ज में डूबे हुए हैं। यूँ तो कहने को गाँव में दो-चार ट्रैक्टर हैं। मोटरसाइकिलों के साथ-साथ कुछ हद तक 'टी.वी.' भी हैं, परंतु फिर भी गाँव की पंचायत, पाठशाला, पार और अधिकांश छप्पर 'ज्यों के त्यों' बने हुए हैं एक लंबे समय से!

सकारात्मक बात यह भी है कि गाँव में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को मेरा गाँव अच्छा लगता है। नए मास्टरजी, बकसेवाले डॉक्टर साहब, वायरमैन, पटवारी, ग्राम सेवक आदि सभी की इस गाँव में अच्छी कमाई हो जाती है। इन दिनों मेरे गाँव में सरकारी धंधों में अच्छी बरकत हो रही है। बाहर के लोगों पर असीम विश्वास रखनेवाले मेरे ग्रामवासी, इन लोगों की जेबें पूरी तरह से भरकर ही इन्हें खाना करते हैं। एक मास्टरजी तो रिटायर होने के बाद भी अगले चार-पाँच वर्षों तक गाँव में ही चिपके रहे थे।

मेरे गाँववासियों की एक खासियत यह भी है कि उन्होंने इस बात को अच्छी तरह से समझ लिया है कि अपनी परिस्थिति तो बदलने से रही! यहाँ कुछ भी नया घटित होगा ही नहीं, ऐसा दृढ़ विश्वास भी उनके मन में है। अतः यह कहते हुए कि, "जाने दो भैया...हमें का लेना-देना?" वे सभी बातों की ओर आना-कानी करते हुए समझदारी से जीवन जीते आए हैं, यह मैंने अपने बचपन से देखा है। इस सबके बावजूद वे समय-समय पर होनेवाले कीर्तन आदि समारोहों में शामिल भी अवश्य होते हैं। सिर पर कर्ज का बोझ होते हुए भी वे अपने बच्चों को पढ़ाते-लिखाते हैं। इसका एक अच्छा असर यह भी हुआ कि (रिश्तत देकर ही सही) आज गाँव के आठ-दस युवक मिलटरी में 'जवान' हैं। कुछ युवक नौकरी-चाकरी में भी लग गए हैं। मेरा गाँव 'ताड़े' आस-पास के अन्य गाँव खेड़ों में अपनी अलग शान स्थापित किए हुए है। वह सरस है। बाँध की वजह से विस्थापित हुए लोगों की खूबसूरत बस्ती; मंदिर के सुंदर विशाल पार के साथ-

साथ लोगों के मन में 'ताड़े', वासियों के प्रति एक खास भावना यह भी कि वे किसी के न लेने में-न देने में। यही बातें गाँव की विशेषता है।

गाँव के लोगों की अपनी खेतीबाड़ी है। छोटे पैमाने पर ही सही, सिर्फ भीलों के अलावा। किसान अच्छा बीज पाने के लिए सभी शर्तों से समझौता कर लेता है। दुःख की बात तो यह है कि इस फरेब से वह सर्वथा अनभिज्ञ होता है। इस सारी भाग-दौड़ के बाद कपास की फसल बारिश की मरजी पर भी निर्भर करती है। बारिश भी धोखा दे जाती है। समय से पानी न बरसा तो कपास के सारे फूल झड़ जाते हैं। जिन किसानों के पास पानी की व्यवस्था है, उनकी फसल बच जाती है और बाकी सभी असहाय होकर हाथ मलते रह जाते हैं और फिर अपने भाग्य को कोसते हैं।

यदि कोई बीज वाकई अच्छी फसल देनेवाला समझ में आता है, तब सभी किसान उसी को खरीदना चाहते हैं। यह बात स्वाभाविक भी है, परंतु बाजार एवं कृषि केंद्रों से वह बीज ही गायब हो जाता है। अधिक दाम देने पर वह उपलब्ध भी हो जाता है। बीज की बिक्री का कारोबार संपूर्णतया निजी क्षेत्रों के अधीन होने की वजह से किसान अपने बीज, बीज कंपनियों को सौंप देते हैं। कई बार इन कंपनियों की कार्यपद्धति आशंकाएँ पैदा करती हैं।

दशहरे के बाद किसान के आँगन में कपास की फसल आने लगती है। उसी समय से दलालों की टोलियाँ प्रत्येक गाँव में गिद्धों की तरह मँडराने लगती हैं। सच तो यह है कि अब तक किसी भी किसान को कपास का बाजार भाव पता नहीं रहता है। व्यापारी जो भाव बताएँगे, उसी पर वे विश्वास कर लेते हैं। फसल कटकर आँगन में आने से पहले ही कृषि केंद्र के लोग, साहूकार आदि किसानों पर दबाव डालना आरंभ कर देते हैं। ऐसी स्थिति में घर बैठे जो रकम (अथवा भाव) मिल जाए उसी में फसल बिक जाती है। व्यापारी इतने चतुर होते हैं कि किसानों से 15 दिन बाद के भुगतान की बोली पर माल खरीद लेते हैं और फिर उसे अन्य प्रांतों में जाकर बेचते हैं और बाद में किसान का भुगतान करते हैं। कई धूर्त व्यापारी ऐसे भी निकल आते हैं जो माल को ले जाते हैं परंतु वायदे के अनुसार रुपयों का भुगतान नहीं करते हैं। कुछ तो माल लेकर भाग भी जाते हैं।

अधिकतर व्यापारी लोग कृत्रिम तौर पर भाव को कंट्रोल करते हैं। प्रतिवर्ष 'कपास पणन संघ' कपास खरीदता है परंतु 'पणन महासंघ' का कारोबार बड़े ही विचित्र ढंग से चलता है। यानी कपास की बुआई से पहले अग्रिम भाव घोषित नहीं किया जाता। जब फसल कटने लगती है, उस दौरान भाव घोषित होता है। कई बार व्यापारी, किसानों से घोषित भाव से कम दामों का आग्रह करते हैं। महासंघ का मुख्य केंद्र तो किसान के लिए किसी कोल्हू से कम नहीं। बेचारे को निचोड़ लिया जाता है। यानी अपनी फसल बैलगाड़ियों में ढोकर केंद्र तक पहुँचो। केंद्र पर कितने दिनों तक रुकना पड़ेगा, इसका कोई अंदाजा नहीं। बोझी का किराया, तौली के पैसे, कपास की श्रेणी (दर्जा) फिट कराने

का (घूस) पैसा और भी खर्चे और फिर अंत में धनादेश (चेक) हाथों में आने के लिए लगनेवाला पैसा! इतनी जिल्लतों से बचने के लिए घर आए व्यापारी को माल बेचना, किसान की दृष्टि से कुछ आसान काम लगता है। और इस तरह हर साल किसान की फसल कम दामों में ही बिकती है। कपास के इस बेभरोसे के कारोबार में कई बार किसान कर्ज के तले दब जाता है, परंतु पैसे की लालसा में कपास का पीछा नहीं छोड़ता है। इस समस्या का समाधान भी कपासी की बढ़िया फसल में निहित है। खेती की पद्धति में आ रहे बदलावों की वजह से कुछ सुधार अवश्य हुआ है, परंतु फिर भी अनिश्चितता का खेल चलता ही रहता है।

मेरे बचपन में गाँव के नजदीक चीनी का एक कारखाना था। वह सहकारिता के सिद्धांत पर चलता था। इसी वजह से चारों ओर खुशहाली थी, बरकत थी। पैसा अच्छा मिलता था, इसलिए किसान भी खूब गन्ना उगाते थे। गाँव के बहुत सारे लोगों को कारखाने में रोजगार भी मिल गया था। धीरे-धीरे कारखाने की अवनति होने लगी। इसका मुख्य कारण था—जरूरत से ज्यादा कामगारों की भरती, भ्रष्टाचार, प्रशासकीय अनुशासनहीनता, घपले आदि। दस वर्षों बाद चीनी मिल की नीलामी हो गई। कारखाना बंद हो जाने की वजह से कई गृहस्थियाँ उजड़ गईं। सारे परिसर में उदासी छा गई। वीरान हो गया सारा परिसर। सौ प्रतिशत पैसा देनेवाली गन्ने की फसल दुर्लभ हो गई। परंतु नेतागण ने जमकर मलाई खाई। अपने स्वार्थ के चलते, प्रतिस्पर्धी को नीचा दिखाने की इनकी आपसी होड़ में इन कृषि सम्राटों ने गरीब किसानों के चेहरों से हँसी छीन ली।

मेरे गाँव में नाना लुटेरे से लेकर अरुण गड़रिए तक सभी लोगों का खेती करने का एक ही तरीका है। वे सभी 15 मई से आकाश की ओर आँखें गड़ाए रहते हैं। अच्छी बारिश के लिए सौ-सौ मन्तों माँगते हैं। बीज खरीदने के लिए गाँठ में पैसा न होने की वजह से गाँव का दुकानदार उधारी पर जो बीज दे देता है, वे उसी को बो देते हैं। बरसों से यही होता आ रहा है। कभी-कभार किसी से सलाह भी लेते हैं और सलाहकार जिस बीज की तारीफ कर दे, सारे जरूरतमंद किसान उसी बीज पर टूट पड़ते हैं। कुछ लोग दूसरे प्रकार के बीजों का भी उपयोग कर लेते हैं। उचित सलाह की आस में कृषि केंद्र का 'बड़ा भैया' उनकी मदद के लिए तत्पर रहता है। उनका यह 'बड़ा भैया' पढ़ाई-लिखाई में औसत से कम दर्जे का होता है फिर भी उसे बुआई के समय बड़ा मान दिया जाता है, क्योंकि वह उधारी पर माल देता है। इसीलिए उस समय उसका मार्गदर्शन भी मौलिक माना जाता है।

मैंने अपने बचपन में हर साल गाँव में एक-दो लोग ऐसे भी मजबूर देखे हैं, जो अपनी जमीन ग्राम पंचायत के नौकर को अथवा किसी मास्टरजी को या फिर किसी बागबान को, उनके नाम हमेशा के लिए लिख देते हैं। उस कच्ची उम्र

में मैंने उनके परिवार को आक्रोशित देखा है, रोते हुए सुना है। मेरी आँखें यह सब देखकर छलक जाती थीं। अपनी फटी कमीज की बाँह से चुपचाप आँखें पोंछता हुआ, मुट्ठियाँ भींचकर मैं दुःखी मन से घर की ओर खाना हो जाता था।

मेरे गाँव के तमाम अल्प-भू-धारक किसान एक दुष्टचक्र वाली चक्की में पिस रहे हैं। गरीबी की वजह से खेती में लगनेवाला आवश्यक सामान वे खरीद नहीं पाते हैं। तब बीज, खाद, दवाइयाँ आदि जुटाने के लिए उधारी का विकल्प बचता है। उधारी का बोझ और कड़ी मेहनत के आसरे खेती जब लहलहाने लगती है, तब ऊँचे भाव का विचार उसे पुलकित कर देता है। बड़ी खुशी से वह अपनी फसल बेचने के लिए निकल पड़ता है, लेकिन फसल के भाव गिरे हुए होते हैं और कर्ज तले दबा किसान, बड़े दुःख के साथ उसे कम दामों में बेचने पर मजबूर हो जाता है।

अपने बेटे-बेटियों के विवाह में, समय-समय पर आनेवाली बीमारियों में, घर के बड़े बुजुर्गों की तेरहवीं आदि में और खेती के काम में उसका खर्च इतना अधिक हो गया होता है कि कर्ज से मुक्ति मिलना नामुमकिन हो जाता है। यानी आवक कम और खर्चा अधिक! इस गहन समस्या से उबरने के लिए फिर रिहाइशी मकान अथवा छोटी सी खेती को गिरवी रखने पर किसान मजबूर हो जाता है। समय के चलते फिर मन में अच्छे भविष्य की उमंग जागती है। फिर वह खेती के काम में कड़ी मेहनत से जुट जाता है और फिर उसी दुष्ट चक्र में फँस जाता है। इन सब की जड़ में होता है साहूकार, जो चक्रवृद्धि ब्याज से पैसे उधार देता है। तीन-चार वर्षों में मूलधन के बराबर का ब्याज हो जाता है, तब अगले तीन वर्षों के लिए साहूकार खेत अपने नाम पर इस करार पर लिखवा लेता है कि किसान समय से सूद सहित सारा रुपया वापस कर देगा। यह कर्ज किसान के बूते से बाहर जाता है और उसकी मजबूरी का फायदा साहूकार के साथ अन्य मक्कारों को भी होता है। अन्य सभी के ध्यान में यह बात आती भी है, परंतु वे बेचारे भी साहूकार के दबाव के तले जीते हैं, अतः चुप्पी साध लेते हैं। आज भी जब मुझे हरी विल, पुंडलीक दामू तथा युवराज हरी की दुर्दशा का स्मरण होता है, मेरा मन गहरी पीड़ा से भर जाता है।

मेरे विचार से गरीब किसान का कर्ज 'कैंसर' की बीमारी जैसा है, जिसके चंगुल से निकलना, बच पाना सर्वथा कठिन है। इसका एक किस्सा मुझे बेचैन कर जाता है। तब मैं बहुत छोटा था, जब मेरे गाँव के एक युवक रामराव का विवाह हुआ था। अपनी पत्नी के साथ वह अलग मकान में रहने लगा। बचपन में ही उसने अपने पिता को खो दिया था। एकमात्र भाई था। उसकी अपनी गृहस्थी थी। भाइयों के बीच पाँच एकड़ जमीन का बँटवारा हो गया।

रामराव को अकेले खेती करने की आदत थी नहीं। खेती से होनेवाली आय और खर्च में कोई तालमेल बैठ न पाता था। अंत में उसने साहूकार से कुछ रुपया उधार ले लिया। धीरे-धीरे ब्याज बढ़ता गया। खेतों में वह निरंतर मेहनत

करता रहा, परंतु उस मेहनत का अपेक्षित फल (पानी के अभाव में) उसे मिल न पाया। समय के चलते माँ का देहांत हो गया। गाँव-खेड़ों के रीति-रिवाज के अनुसार तेरहवीं में खर्च कुछ अधिक हो गया। बड़ी विपदा में घिरा रामराव, धीरे-धीरे सूखकर काँटा हो गया। साहूकार का तकाजा शुरू हो गया। न उसे रिश्तेदारों से मदद मिली और न ही बैंक से कर्ज! अंत में हारकर उसने अपनी जमीन साहूकार के पास गिरवी रख दी, जो वह कभी छुड़ा न पाया। उत्साह से गाने बजानेवाला, हँसोड़ स्वभाव वाला, उम्मीदों का फव्वारा रामराव अंत में दूसरों के खेतों में मजदूरी करने लगा। धीरे-धीरे उसकी आवाज की अनोखी तेजी घटती गई। आँखें बुझने लगीं और वह निराशा से घिर गया। असमय ही प्रौढ़ हो गया। ऐसे कितने ही रामराव कर्ज की चपेट में बरबाद हो जाते हैं मेरे गाँव में।

किसान को सर्वाधिक दुःख इस बात का होता है कि अपनी पैतृक भूमि को वह बचा न पाया। उसकी आंतरिक व्यथा एवं मजबूरी उसकी आँखों में झलकती रहती है। उदास, खिन्न भाव से जीनेवाले इन गरीबों के मन में जो अंधड़ घूमता रहता है, उसे शब्दों में बयान करना असंभव है! किसान का खेत ही उसका सबकुछ है। साँस भी वही, सपना भी वही और जीवन भी वही। अपनी इस विरासत को बेचते समय वह अंदर से टूट जाता है, क्योंकि उसके सारे सुख-दुःख इससे जुड़े होते हैं। मेरा भी अपने खेत से इतना ही लगाव रहा है बचपन से। बारिश के मौसम में सारे खेत लहलहाते हैं। प्रत्येक खेत में अलग-अलग प्रकार की फसल डोलती दिखाई देती है। इनके बीच से दौड़ने में अनोखा आनंद आता है। कटाई से पहले की फसल की अवस्था मुझे बहुत पसंद आती है। खेत किसी दुलहन की तरह प्रतीत होता है। मैं घर से निकलकर पगडंडी से होता हुआ, कीचड़ में चलता हुआ जब खड़ी फसल को हलके से दुलारता आगे बढ़ता, वह आनंद मेरे लिए परमानंद से कम न होता था।

सर्दी के मौसम में खेतों में काम की बड़ी हड़बड़ी मची रहती है। एक फसल कट चुकी होती है और दूसरी फसल की बुआई की तैयारी चल रही होती है। ऐसे में खेतों को पानी देने के काम में बड़ा मजा आता है। गेहूँ, प्याज, सब्जी-भाजी के पौधों को कुएँ पर लगी मोटर से पानी देने का आनंद बड़ा अनोखा होता है। मैं इस काम में खूब व्यस्त हो जाता था। दोपहर के भोजन में ज्वार की रोटी, हरी मिर्च की चटनी—जिसमें प्याज, लहसुन पिसा होता है—खाने में जो स्वाद है, उसके क्या कहने! अहोभाग्य! खेत में इस तरह से बिताया समय बड़ी खुशी बाँट जाता है।

ग्रीष्म ऋतु में फसल नहीं के बराबर। दोपहर में कड़ी धूप परंतु संध्या समय में बहती ठंडी बयार। सारा वातावरण शाम को बड़ा रमणीय लगता। अपने घरौंदों को लौटते, कलरव करते पंक्षियों के झुंड। स्त्रियों को अँधेरे से पहले घर पहुँचने की आस ही उन्हें तेजी से कदम उठाने को प्रेरित करती है। एक ओर गाय-

बैलों का अपने मालिकों के साथ 'गोधूली' में घर लौटना। वातावरण को प्रसन्न करती हुई उनके गले में बँधी घंटियों की मधुर गूँज! आज भी जब मैं अपने गाँव लौटता हूँ, शाम को मेरे कदम अपने आप खेत की राह पर निकल पड़ते हैं। मैं फिर से पुराने अनुभवों के आनंद की आस में आगे बढ़ जाता हूँ।

मेरे गाँव की एक और खासियत यह भी कि यहाँ बसनेवाला प्रत्येक 'ऐरा- गैरा नत्थू खैरा' अपने आपको बड़ा ही महत्वपूर्ण व्यक्ति मानता है। उसे बड़प्पन का शौक है। अब चुनाव चाहे ग्राम पंचायत का हो, ठेंगा सोसायटी का हो अथवा दूध की डेरी का, प्रत्येक को लगता है कि वही एक सही उम्मीदवार है। अब सारा हिसाब-किताब शुरू हो जाता है। पिछली बार जिस परिवार का सदस्य चुना गया होगा, इस बार उसे चुनाव की उम्मीदवारी नहीं दी जाएगी। 'काला अक्षर भैंस बराबर' की बिरादरी के बापू, तात्या, जीभू जैसे लोगों को इसमें आना होता है। तब आपसी रिश्तेदारों में से एक का नाम मुकर्र किया जाता है। इस प्रकार की नीति अपनाने की वजह से मुझे तो विश्वास हो गया है कि इन जगहों पर कोई लायक उम्मीदवार कभी चुना ही नहीं जाएगा। यहाँ का कायदा और मान्यता यही है कि चुना गया उम्मीदवार 'मलाई' खाएगा, जो उसका हक बनता है।

जुआ खेलना, सट्टा लगाना भी एक व्यवसाय ही माना जाता है मेरे गाँव में। बचपन में सट्टे का मतलब मेरी समझ में कभी आया ही नहीं। उन दिनों हमारे गाँव से कई छात्र प्रतिदिन एरंडोल के स्कूल में बस से पढ़ने जाया करते थे। मैं भी जाया करता था। हमारी बस में प्रतिदिन कई बड़े लोग भी बैठकर एरंडोल जाया करते और हमारे साथ ही लौटा भी करते। वे वहाँ किस काम से जाते थे, मुझे लंबे अरसे तक समझ में नहीं आया, परंतु अंत में मुझे उनका 'राज' मालूम हो ही गया!

कई मुद्दों पर मेरे गाँव की तारीफ करनी ही पड़ेगी। शिक्षा, परिवार नियोजन तथा जल आपूर्ति के व्यवस्थापन में मेरा गाँव अग्रणी है। पिछले तीस वर्षों से गाँव की जनसंख्या ज्यों-की-त्यों बनी हुई है।

दुर्भाग्य की बात यह भी कि मेरे गाँव में लड़कियों की पढ़ाई-लिखाई को कोई महत्व नहीं दिया जाता। अब गाँव में हाई स्कूल खुल जाने की वजह से जरा सा बदलाव अवश्य आया है। अपने छोटे भाई-बहनों को सँभालना, खेती के काम में मदद करना आदि से यदि फुरसत मिल जाए तो पढ़ाई भी कर लो। माता-पिता इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि लड़की दसवीं फेल हो जाए तो बेहतर। समझो जैसे-तैसे दसवीं पार कर ली, तब आगे की पढ़ाई में सौ-सौ अड़ंगे लग जाते हैं। मेरे गाँव में लड़की उम्र के अठारहवें वर्ष से पहले ही ब्याह दी जाती है। 'बेटी पराया धन है' इसलिए उसे पढ़ाई-लिखाई से क्या लेना-देना? यही मानसिकता प्रबल है। इसी मानसिकता को लड़कियों ने भी सहजता से स्वीकार लिया है। किसी परिवार में यदि एकाध लड़की बेटे से अधिक बुद्धिमान है, तब भी उसे पढ़ाया नहीं जाता है।

परंतु यह मानसिकता अब धीरे-धीरे बदलती नजर आ रही है। लड़कियों को हाई स्कूल भेजा जा रहा है। विवाह से पहले लड़की अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद नौकरी कर लेगी, सक्षम बनेगी यह सोच अभी कोसों दूर है। कुछ धनिक परिवारों में लड़कियों को दूसरे कारण से पढ़ाया जाने लगा है। पढ़े-लिखे, अच्छी नौकरीवाले लड़के अब बिना पढ़ी-लिखी लड़की से शादी करना पसंद नहीं करते हैं। कौतिक नामक एक धनिक गाँव में है। उसकी बड़ी लड़की सिर्फ दूसरी कक्षा तक पढ़ी है। दिखने में भी अच्छी है। कौतिक चाहता है कि अच्छी नौकरीवाला, पढ़ा-लिखा दामाद उसे मिले। कई रिश्ते आए भी, परंतु बात पक्की न हो रही थी। लड़की सुंदर है। पिता धनवान है, परंतु फिर भी मनचाहा दामाद मिलने में दिक्कत है—पढ़ाई की समस्या! अब कौतिक अपनी दूसरी बेटी की शिक्षा की ओर ध्यान देने लगा है।

गाँव की पंचायत की कार्य पद्धति के क्या कहने! आपसी मनमुटाव, दुश्मनी के चलते चुने गए सरपंच साहब अधिकतर अँगूठाछाप ही होते हैं। सरपंच बनते ही उनकी शान बढ़ जाती है। वे मूँछों पर ताव देते हुए गाँव में घूमते हैं। ग्राम पंचायत की कार्यपद्धति को समझने की उनकी न ही औकात होती है और न ही इच्छा। पंचायत का चपरासी, ग्रामसेवक की मदद से व्यवस्थापन देखता है। अतः ग्रामसेवक बड़ा खुश रहता है, क्योंकि चपरासी महोदय की वजह से काम का झंझट नहीं और सरपंच की किटकिट भी नहीं।

मेरे गाँव का वातावरण धार्मिक है। गाँव में प्रतिवर्ष एक हफ्ते भर के कीर्तन का आयोजन अवश्य होता है, जिसे मैं बचपन से देखता चला आया हूँ। प्रतिदिन अलग-अलग कीर्तनकार आते हैं। मासिक ग्यारस के दिन भजन का आयोजन भी होता है। कहते हैं कि भजन सुनने से, गाने से पुण्य प्राप्त होता है। इस बात पर बचपन में मेरा दृढ़ विश्वास था। भजनियों के प्रति मेरे मन में नितांत आदर की भावना बसती थी। समय के साथ मेरे भ्रम का गुब्बारा फूट गया। मेरे ध्यान में यह बात धीरे-धीरे आने लगी कि भजन करने के साथ-साथ मनुष्य का आचरण भी शुद्ध होना चाहिए। यह बड़ा ही कठिन व्रत है। मैंने देखा और जाना कि कीर्तनकार, भजन करनेवाले लोग भी झूठ बोलनेवाले, जुआ खेलनेवाले सामान्य लोग ही हैं।

फसल कटाई का मौसम खूब अच्छा लगता है। सभी लोग अपने-अपने काम में व्यस्त। अनोखी भाग-दौड़। किसी के पास बात करने की भी फुरसत नहीं। सारा काम निपट जाने पर सारा गाँव फिर से सुस्त-सा हो जाता है, किसी जुगाली करती गाय जैसा! थका-थका सा। इस मौसम के तुरंत बाद नदी पारवाले गाँव 'माहिजी' में मेला लगता है। वहाँ देवी माता का मंदिर है। मेरे गाँववालों के लिए यह मेला सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्तर पर महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। करीब आठ दिनों तक मेले का आयोजन रहता है। मेले में कंघी, बिंदी, रिबन आदि से लेकर गृहस्थी में उपयोग में आनेवाली वस्तुओं तक सब कुछ मिलता

है। वहाँ की जलेबी खूब स्वादिष्ट होती है। बचपन में मैं रोज-रोज मेले में जाया करता था। मेले के दौरान सभी के घरों में मेहमान आया करते हैं, मेला देखने के लिए। मेले में रात्रि के समय रोज नौटंकी का नाच होता है। आस-पास के दस गाँवों से लोग छकड़े से, मोटरसाइकिल से, साइकिल से, वहाँ बड़ी तादाद में तमाशा (नौटंकी) देखने अवश्य आते हैं। मैंने भी छिपते-छिपाते कई बार इसे देखा है।

गाँव-खेड़ों में मनाए जानेवाले त्योहारों का संबंध लोगों के सांस्कृतिक जीवन से जुड़ा हुआ होता है। आज जीवन की गति तेज हो गई है। शहरों में त्योहारों का रूप भी बदल गया है, परंतु गाँवों, कस्बों में आज भी वही पुराना माहौल है। हमारा त्योहार गाँव की साँस है। वही उनका भाव-विश्व है।

मेरे गाँव में आज भी आखातीज, पोला (बैलों के पूजन का त्योहार), दशहरा, कानबाई, गौराई, दीवाली आदि त्योहार पारंपरिक पद्धति से बड़ी धूमधाम से मनाए जाते हैं।

मुझे सबसे अधिक आकर्षण था 'पोला' यानी बैल-पूजन के त्योहार का। उस दिन सभी लोग अपने बैलों को नदी पर ले जाकर नहलाते हैं। उन्हें खूब सजाते हैं। हम बच्चे अपने बैलों के सींगों को, बदन को आकर्षक रंगों से रँगते थे। बैलों के सींगों में रंग-बिरंगे फुंदने लटकाते थे। गले में घुँघुआओं की माला पहनाते थे और फिर बच्चों के साथ बैलों का जुलूस सारे गाँव में घूमता था। मेरे घर में बड़े बैल कभी थे ही नहीं। मैं इधर-उधर कोशिश करता और अंत में अपने बाड़े में बँधे छोटे बछड़े को ही सजाता-सँवारता और जुलूस में ले जाता। गाँव के मंदिरों में हम जाते और भगवान् के दर्शन करके नारियल फोड़ते, प्रसाद चढ़ाते। उस दिन सभी के घरों से मीठी रोटी की सुगंध आती है।

शाम को दीया-बत्ती जलने से पहले बैलों की लंबी दौड़ (रेस) का आयोजन होता था। जिसका बैल सबसे आगे निकल जाता, उसकी शान बढ़ जाती। अंत में बैलों का रेला, गाँव के प्रत्येक देहली पर आरती स्वीकारता, मीठी रोटी खाता और हरेक बच्चा अपना बैल लेकर खुशी-खुशी घर लौटता।

उसके बाद आता था दशहरे का त्योहार। उस दिन सारे पशुधन को नहलाया—धुलाया जाता था सुबह के समय। फिर अपने-अपने वाहन यानी साइकिल, मोटर साइकिल आदि को धोया जाता, चमकाया जाता। घर के आँगन को लीप-पोतकर उसमें रंगोली सजाई जाती थी। इसके बाद सभी खेतों पर काम करने निकल जाते। उस दिन शाम को गहमा-गहमी रहती थी। अपने-अपने खेतों से महुए के तुरें, गन्ने के ठूँठ लाकर हनुमानजी और भगवान् शंकरजी को चढ़ाए जाते थे। अच्छी फसल के लिए प्रार्थना होती थी। अपने से उम्र में बड़े, सयाने लोगों को कचनार के पत्ते हाथों में देकर उनके चरण स्पर्श करने का रिवाज है। इसे 'सोना देना' कहते हैं। तब सभी बड़े लोग हम बच्चों को गुड़ की डली अथवा पिपरमिंट की गोलिएँ देते थे। हम इतने शैतान थे कि जिस घर में

गोलियाँ मिलतीं थीं, वहाँ बार-बार 'सोना देने' पहुँच जाते। अंत में बैलगाड़ी में बैठकर गाँव के बाहर जाते 'सीमोल्लंघन' के लिए। इस सैर में बड़ा मजा आता।

इसके बाद 'कानबाई', 'गौराई' का त्योहार आता था 'कानबाई' यानी माता पार्वती का रूप माना जाता है। 'कानबाई' की प्रतिष्ठापना किसी एक घर में की जाती है, परंतु गौराई की छोटी मूर्ति (मिट्टी की) हर घर में स्थापित की जाती है। लड़कियाँ संध्या समय उनके सामने लकड़ी की डाँडियाँ लेकर नाचतीं और आरती करती हैं। गौराई के गीत गाती हैं। अंत में प्रसाद बाँटा जाता है। रोज नया प्रसाद रखा जाता है। हम लड़के भी प्रसाद की लालच में वहीं मँडराते रहते। कुछ दिनों बाद कानबाई, गौराई की मूर्तियों का विसर्जन किया जाता है। विसर्जन के जुलूस में दो लड़कियों को राधा और कृष्ण की तरह सजाया जाता था।

ग्रीष्म ऋतु में आता है त्योहार 'आखा तीज' का। खानदेश में यह सबसे बड़ा त्योहार माना जाता है। इस त्योहार में सभी विवाहित कन्याएँ मायके आती हैं। घर के कोई पुरुषजन यदि किसी कारणवश बाहरी गाँव में हैं, वे भी लौट आते हैं इस त्योहार के दिन। सारा वातावरण बड़ा ही उल्लासित रहता है। सभी के घरों में मीठी रोटी, पकवान बनते हैं। इसी दिन से कामगार लोगों का, खेतिहरों का नया वर्ष आरंभ हो जाता है। सभी के आँगन में झूले लगते हैं। मायके आई लड़कियाँ उनपर बैठकर पारंपारिक गीत गाती हैं। मुझे याद है कि हम सारे दोस्त इस त्योहार के दिन सारा समय ताश खेलने में बिताया करते थे।

फिर आता है गणेशजी का उत्सव-त्योहार। हमारे संपूर्ण गाँव में सिर्फ एक ही गणेश मूर्ति की स्थापना की जाती है। सभी परिवारों से जो चंदा इकट्ठा होता था, उसे इस उत्सव में खर्च किया जाता था। गणेशजी की झाँकी सजती थी। रोज सुबह-शाम आरती भी होती। यह त्योहार सात दिनों तक चलता था। आस-पास के किसी गाँव से एक दिन नाटक मंडल को आमंत्रित कर नाटक खेला जाता था। कभी-कभार गाँव के उत्साही, गुणी कलाकारों का नाटक भी रखा जाता था। इन नाटकों में 'स्त्री' का पार्ट (भूमिका) जो भी लड़का करे, उसे आगे कई दिनों तक हम सभी उसी नाम से पुकारा करते, चिढ़ाया करते थे। त्योहार के दौरान एक दिन भजन, एक दिन कीर्तन रखा जाता। बाकी बचे दिनों में सिनेमा दिखाया जाता था। सात दिनों के बाद बाजे-गाजे के साथ बड़ी धूमधाम से, पार के पास बने बड़े कुएँ में गणेशजी का विसर्जन किया जाता था।

बचपन में एक दिन मैंने गणेशजी की एक मूर्ति खुद बनाई थी, मिट्टी के लोंदे से। उसे विविध रंगों से रंगा, सजाया और घर के एक आले में रखकर मैं रोज उसका पूजन और आरती करने लगा। धीरे-धीरे घर के सभी लोग उसमें शामिल होते गए। अगले वर्ष मुझे मूर्ति बनानी नहीं पड़ी। पिताजी खुद ही बाजार से नई मूर्ति खरीद लाए और एक नई परंपरा शुरू हो गई, जो आज भी चल रही है।

दीवाली का आनंद उस वर्ष की फसल पर निर्भर करता था। जिसकी खेती में अच्छी फसल आ जाती थी, वह परिवार खुशी से त्योहार मनाता था। उस घर में पटाखे अधिक मात्रा में आते। वे बच्चे पटाखों का खूब आनंद लेते। जिन घरों में हालत खस्ता होती थी, वहाँ के बच्चे अनमने भाव से दूसरों का आनंद अपने घरों से देखते।

त्योहारों के अलावा मेरे गाँव में मनोरंजन के दूसरे भी कई साधन थे। समय-समय पर मदारी, बाजीगर अपने खेल दिखाने आते थे। नाटक कंपनियाँ भी कभी-कभी नाटक खेलने आती रहीं। मनोरंजन का एक भी मौका हम बच्चे कदापि छोड़ते न थे।

गाँव में होनेवाले मँगनी, विवाह आदि समारोह को गाँव के सामाजिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। किसी भी घर में इस समारोह के आठ दिन पहले से इसी विषय को लेकर आपसी बातचीत का रुख रहता था सारे गाँव में। समारोह के आठ दिन बाद भी वही चर्चा लगातार चलती रहती। इसका बड़ा मजेदार असर यह रहता था कि गाँव में किसका विवाह पक्का हो गया है, किसका विवाह कुछ कारणों से अटका हुआ है, किस घर में आपसी मतभेदों के चलते लड़ाई-झगड़ा हो रहा है, किस परिवार की सास-बहू के बीच तू-तू-मैं-मैं का वाक्युद्ध चल रहा है, आदि बातें सारे गाँव को पता चल जातीं। कोई भी बात छिपना-छिपाना असंभव था। फिर बड़े पार पर, पनघट पर, चौपाल पर इन्हीं मुद्दों पर धीमी आवाज में निरंतर चर्चे चलते रहते।

मुझे याद है कि मेरे बचपन में हमारे गाँव में एक भगत रहा करता था। कहते हैं कि उसके शरीर में 'देव' संचार करते थे। उसके शरीर में इस संचार के हो जाने पर वह गोल-गोल घूमने लगता था। कार्तिक मास में इस प्रकार के संचार एवं घूमने का उत्सव सात दिनों तक चलता था। इन सात दिनों के दौरान भगत के घर के सामने एक लंबी लकड़ी रखी होती थी, जिसके एक सिरे पर अनेक रंगों के कपड़े के टुकड़े (चिंदियाँ) लिपटे रहते। दूसरे सिरे पर मोरपंखों गुच्छा और लाल कपड़े का दो तिकोना झंडा बँधा रहता था। उत्सव की प्रत्येक शाम को भगत के शरीर में देव संचार करते थे और भगत जोर-जोर से चीखता हुआ गोल-गोल नाचने लगता। किन्हीं खास वाद्यों के ताल पर और खास गीतों की तर्ज पर उसका नाचना चलता था। फिर गाँव के लोग किसी मरीज को उसके सामने ले आते। भगत बुदबुदाते हुए किसी मंत्र को पढ़ता और मरीज के माथे पर भभूत लगाता और मोरपंखों के गुच्छे से उसे स्पर्श करता। यदि गाँव में किसी के घर चोरी हुई होगी, तब वह किस्मत का मारा भगत की शरण में अपनी फरियाद रखता। भगत फिर मंत्रों को पढ़ता और चोर का अता-पता (अंदाजे से) बयान करता। सात दिनों तक यही सारी हरकतें होतीं रहतीं। सातवें दिन गाँव में जुलूस निकलता। एक बकरे को बलि चढ़ाया जाता और उसे पकाकर दावत दी जाती। फिर उत्सव समाप्त हो जाता। भगत की वजह से समस्याओं के निवारण के एक-

दो किस्सों की चर्चा गाँव में कई दिनों तक चलती रहती। भगत के शरीर में संचार करनेवाले देव (भगवान्) का नाम था 'चांग्यापांग्या'। गाँव छूट जाने पर मैंने अपने जीवन में भगवान् का यह नाम 'चांग्यापांग्या' आगे कभी सुना भी नहीं।

मेरे ननिहाल में भी एक स्थान 'पीरबाबा' का था, जिसे 'बाबादेव' कहा जाता था। प्रत्येक इतवार को वहाँ एक 'भगतिन' की देह में देव यानी 'बाबादेव' संचार करते थे। दूर दूर से लोग अपनी समस्याओं को लेकर भगतिन के पास आते। बैलगाड़ी, मोटर साइकिल, मोटर आदि वाहनों से लोग वहाँ आते थे। भीड़ जमा हो जाती थी। मेरी दूर की रिश्तेदार एक नानी को, जो बहुत बीमार थी, भगतिन के सामने रखा गया। भगतिन ने आश्वासन दिया कि बीमार नानी जल्दी ही ठीक हो जाएगी, परंतु नानी एक हफ्ते में ही चल बसी। तब से मेरा ऐसी बातों पर से विश्वास ही उठ गया।

डॉक्टरी पेशे के लिए मेरा गाँव एक वरदान है। यदि किसी डॉक्टर का दवाखाना किसी दूसरी जगह पर न चलता हो, तो वह मेरे गाँव में आ जाए। उसका व्यवसाय जमकर चलेगा। खास बात तो यह भी कि आपके पास डॉक्टरी की डिग्री होना भी यहाँ आवश्यक नहीं है। यदि किसी डॉक्टर के पास आपने कंपाउंडरी की है, तब भी काम बन जाएगा। लोगों की समझ सीमित है। एक डॉक्टर साहब सलाइन लगाने में माहिर थे। तुरंत गाँववालों ने उसका नाम 'सलाइन वाला डॉक्टर' रख दिया। मेरे गाँव में आने से पहले किसी भी डॉक्टर की माली हालत कितनी ही खस्ता क्यों न रही हो, मेरे गाँव में आने के बाद वह शर्तिया मालामाल हो जाएगी।

आस-पास के पाँच मील के परिसर में बसा मेरा गाँव सभी से अलग-थलग है। अच्छे कामों की बात तो कोसों दूर, बुरे कारनामों में भी उसका कहीं कोई नाम नहीं! यानी गाँव का यह (समभाव) स्वभाव, यहाँ बसे हर नागरिक के व्यक्तित्व में पूर्णतया मिल गया है।



बचपन के दिन

जैसा मेरा गाँव, ठीक वैसा ही मेरा परिवार भी। किसी से कोई लेना-देना नहीं। न लेने में, न देने में मात्र दो बीघे जमीन में हम कैसे गुजारा कर लेते हैं, इस बात का सभी गाँववालों को बड़ा अचरज लगता। मेरी माँ, जिसे हम 'ताई' नाम से संबोधित करते हैं, उसकी सारे गाँव पर आदरयुक्त धाक जमी हुई है। ईमानदार, सीधे मार्ग पर चलनेवाली, पवित्रमना है मेरी माँ। उसे झूठ से, चुगली से तथा आलस से गहरी चिढ़ है। उसके रोम-रोम में स्वाभिमान भरा हुआ है। हमारी गली की तमाम महिलाओं के मन में मेरी माँ के प्रति आदरयुक्त डर समाया रहता है।

भुसावल के एक मजदूर परिवार में मेरी माँ का जन्म हुआ था। नानाजी रेल के महकमे में काम करते थे। मेरी माँ के तीन बड़े भाई थे, जिनकी वह एकमात्र छोटी बहन थी। माँ से छोटा एक और भाई था। मेरी नानी गिट्टी (पत्थर) तोड़ने के लिए जाया करती थी। उसके साथ दो बेटे भी जाया करते थे। 'ताई' छोटी होने की वजह से घर पर रुकती। स्कूल जाती और छोटे भाई को सँभालती। छोटे भाई के लिए उसे स्कूल भी छोड़ना पड़ा। वह बुद्धिमान थी, अतः स्कूल के मास्टरजी नहीं चाहते थे कि उसकी पढ़ाई रुक जाए। मास्टरजी ने नानाजी को बहुतेरा समझाया, पर कुछ फायदा न हुआ। यह किस्सा वह कभी-कभी हम लोगों को भी बताया करती है।

तापी नदी में आई भीषण बाढ़ में नानाजी का घर, सामान बह गया, इसीलिए उन्हें भुसावल शहर छोड़ना पड़ा। इधर-उधर भटकता यह परिवार अंत में कुरंगी नामक गाँव में बस गया। पेट पालने के लिए ताई के दो बड़े भाई घर छोड़कर नौकरी की तलाश में निकल गए थे। उम्र के पंद्रहवें वर्ष में ताई के मामाजी ने ताई का विवाह पक्का कर दिया था। कच्ची उम्र में मेरे दो मामा पहले ही घर से दूर निकल गए थे। उन्हें अच्छी कमाई होने लगी थी, अतः उन्हें आपस में तथा घर से कोई प्रेम-सरोकार रह न पाया था। सबसे बड़े मामा पुणे में बस गए थे और अपनी दुनिया में मगन हो गए थे। मँझले मामा भी घर से अलग हो गए और अपनी गृहस्थी चलाने लगे। पता नहीं आगे क्या हुआ कि वे अपने परिवार को त्यागकर कहीं निकल गए, जिनका आज तक भी कोई पता-ठिकाना नहीं है। बाकी दो मामा भी इधर-उधर छोटा-मोटा काम करते हुए जीवन चलाते रहे। उम्र के साथ नानाजी के आँखों की रोशनी जाती रही। तब बड़ी हिम्मत से नानीजी ने अपनी गृहस्थी की बागडोर सँभाल ली। अपनी खेती सँभालते हुए नानी मजदूरी भी करती थीं। अपने स्वाभिमान का जतन करते हुए नानी ने अपनी गृहस्थी चलाई। नानी के सारे अच्छे गुण ताई में भी उतरे हैं। चारों भाइयों को वैसे भी परिवार से कोई खास स्नेह था नहीं, शायद इसीलिए नानी तथा ताई के बीच का स्नेह बंधन और अधिक मजबूत होता गया।

ताई के विवाह का किस्सा बड़ा विचित्र है। भले ही नानाजी ने आजीवन निर्धनता के झटके सहे थे, परंतु ताई के मामाजी की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। ताई के विवाह की पूरी जिम्मेदारी उन्होंने स्वीकार ली। उनके पास अन्ना (पिताजी) का रिश्ता आया। उन्होंने देखा कि लड़का इकलौता है, अच्छी पढ़ाई कर रहा है और उसकी बहुत बड़ी खेती भी है। इस हिसाब से रिश्ता पक्का कर दिया। विवाह हो जाने के पश्चात् इस बात का भांडा फूट गया कि लड़के के नाम बहुत बड़ी जमीन है। सारी जानकारी झूठ साबित हो गई। ताई के मन में यह चुभन सदा के लिए बनी रही। उसे बार-बार यही लगता रहा कि यदि उसका स्कूल छुड़वाया न होता, तब संपत्ति की झूठ-मूठ शान बघारने की हिम्मत लड़केवाले कदापि नहीं कर पाते। जीवन किसी अच्छे मोड़ पर बीतता!

नानाजी के देहांत के बाद नानीजी अकेली रह गईं। उनका गाँव हमारे गाँव के नजदीक होने की वजह से माँ-बेटी एक-दूसरे का सहारा बन गईं। विवाह के पश्चात् ताई के सामने सच उजागर होने लगा। मूलतः जमीन कम ही थी। उसमें से कुछ बिक गई थी, तो कुछ रेहन पड़ी थी। घर भी खाली-खाली। बची-खुची जायदाद पर रिश्तेदारों की नजर थी। इस परिस्थिति की वजह से कम उम्र में ताई पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी आन पड़ी थी। नानी की मदद से ताई ने सारी समस्याओं से जूझते हुए अपनी गृहस्थी चलानी आरंभ कर दी। आगे चलकर अन्ना का तबादला दूर के गाँव में हो गया। ऐसी हालत में दो घरों के बीच ताई की भाग-दौड़ और भी बढ़ गई।

जब नानीजी, माँ का सहारा बन गईं, दोनों मामाओं के घर में कलह शुरू हो गया। उन्होंने नानी पर आरोप ही लगा दिया कि वे ताई को रुपया-पैसा देती हैं। इस मान-खंडना से नानी के मन को ठेस पहुँची और स्वाभिमानी नानी ने अपने बेटों से दूर रहना ही पसंद किया। इसी मुद्दे पर दोनों मामाओं का ताई से भी झगड़ा हो गया। आज भी बहन-भाइयों के रिश्ते में दरार पड़ी हुई है।

बचपने में जब मेरी समझ कुछ बढ़ गई, तब से मैंने ताई-अन्ना को गृहस्थी की परेशानियों से जूझते हुए देखा है। दादाजी के देहांत के बाद अन्ना को नौकरी त्यागकर घर लौटना पड़ा। हमारी दो बीघा खेती सिर्फ बारिश के पानी पर निर्भर करती थी। पानी की समस्या से निपटने के लिए ताई के जेवर बेचकर कुएँ पर मोटर लगाई गई। उन दोनों ने सिलाई का काम सीखा और सिलाई करने लगे। इसी के फलस्वरूप हमारे परिवार को दो जून की रोटी नसीब होने लगी।

मेरे पिताजी यानी अन्ना स्वभाव से बिल्कुल सरल व्यक्ति थे। वे भगवान् पर विश्वास रखते थे परंतु उन्हें गुस्सा तुरंत आ जाता था। गाँव के लोगों में उनका रहना अथवा न रहना समान ही था। गाँव में उन्हें सभी 'भला मानस' कहा करते। दरअसल उनकी माँ का देहांत अन्ना के बचपन में हो जाने की वजह से उनका स्वभाव अलग तरीके का हो गया, इसे हम समझते थे। बाहर बिल्कुल शांत

एवं मिलनसार कहलानेवाले अन्ना घर में बात-बात पर गुस्सा करते थे। घर का माहौल हमेशा गरम रहा करता; परंतु ताई बिलकुल शांत बनी रहती।

अन्ना ने बचपन से बहुत दुःख झेले थे। दादीजी की कई संतानें हुई—परंतु उनमें से सिर्फ दो संतानें ही जीवित रह पाई—मन्नतोंवाला एक लड़का और एक बेटा। दादीजी हमेशा बीमार रहने लगीं, इसलिए अन्ना को बचपन में उनकी बुआ के पास गिरड नामक गाँव में रखा गया। जब वे आठवीं कक्षा में थे, दादीजी का देहांत हो गया। उनकी बीमारी में बहुत सारा रुपया खर्च हो गया। दादाजी बिलकुल ही भोले-भाले थे। समय-समय पर साहूकार से रुपया उधार लाकर, थोड़ी सी जमीन बेचकर उन्होंने दादी की दवाई का खर्च चलाया। उन्हें हिसाब शायद ठीक से समझ न आया और इसी का फायदा कर्ज देनेवाले को हो गया। कर्ज के बदले साहूकार ने उनकी सारी जमीन हड़प ली। दुःख की बात तो यह थी कि अन्ना के विवाह का जब रिश्ता (ताई का) आया था, मेरे नानाजी को आरंभ में जितनी जमीन थी, उसे ही दिखाया गया था।

बचपन में अन्ना ने जो दुर्दशा सही, उसका असर उनके स्वभाव पर अवश्य पड़ा। मन में उपजी असुरक्षा की भावना, अपनी क्षमताओं के प्रति अविश्वास, अपने करीबी रिश्तेदारों से किंचित् दूरी बनाए रखना आदि में बचपन की तकलीफें झलक जाती हैं। दसवीं पास होने पर उन्होंने आई.टी.आई. (औद्योगिक प्रशिक्षण) का कोर्स किया और वे 'कोयना पावर हाउस' में फिटर की नौकरी करने लगे। जब तक दादाजी जीवित थे, वे नौकरी से चिपके रहे। परंतु जब दादाजी गाँव निकल गए, वे कोयना में अकेले रह गए। तब मामाजी पुणे में टेल्को कंपनी में कार्यरत थे, अतः वहाँ उन्हें नौकरी भी मिलेगी। इस आस में अन्ना नौकरी छोड़कर पुणे आ गए। टेल्को में उन्हें नौकरी भी मिल गई। परंतु सन् 1975 की आपात स्थिति में टेल्को ने बहुत सारे कामगारों को नौकरी से हटा दिया। दुर्भाग्यवश अन्ना भी इसकी चपेट में आ गए। उनके लिए पुणे एक नई जगह थी। पुरानी नौकरी छोड़कर वे टेल्को में लगे थे। अब वह काम भी हाथ से जाता रहा, इसी मानसिक बोझ से उनका आत्मविश्वास हिल गया। आगे चलकर उन्होंने अलग-अलग कंपनियों में अर्जियाँ दीं। परंतु काम बन न पाया। मामाजी भी परेशान थे। अंत में परिस्थिति से हारकर अन्ना अपने गाँव लौट आए।

अन्ना का स्वभाव कुछ दबा-दबा सा है। किसी भी नई बात (काम) की शुरुआत करने से वे कतराते हैं। किसी समस्या से सामना करने से वे डरते भी हैं। हिम्मत, चतुराई, भिड़ जाना आदि से वे बहुत दूर रहते हैं। शायद इसी स्वभाव की वजह से उन्होंने पुणे जैसी प्रगतिशील उद्यम नगरी को छोड़कर अपने गाँव लौट आने का निर्णय किया, जहाँ उनके पास न जमीन थी, न जायदाद और न ही कोई जीवनयापन का पक्का सहारा! उनके ऐसे स्वभाव को मैं बचपन से देखता चला आया हूँ। परिवार को अभावों में झुलसता देखता आया हूँ मैं। शायद इसी के परिणामस्वरूप मैं कुछ अधिक ढीठ बन गया। नरमाई का दुश्मन भी बन गया।

वे परिस्थिति के आगे झुकते रहे और मैं संकटों के वाहन पर बेझिझक आरुढ़ होना सीखता गया।

किसी भी काम के प्रति, निर्णय के प्रति अन्ना का रवैया नकारात्मक ही रहता था। ताई दुनिया की ओर सकारात्मक दृष्टि से देखने की आदी थी। शायद इसीलिए ताई के मतानुसार निर्णय हुआ करते। आर्थिक मुद्दे पर अन्ना और ताई के बीच हमेशा तनाव बना रहता। अन्ना हमेशा पैसों के बारे में सोचते रहते। इसी चिंता में सारी रात सो भी न पाते थे। ताई और अन्ना के संस्कारों की वजह से हम चारों भाई-बहन खूब मेहनती बन गए। ताई ने सारी उम्र एक व्रत का पालन किया कि खेत की अपनी मेड़ को लाँघकर दूसरों की मेड़ से एक पत्ता तक न तोड़ा। पराई वस्तुओं की ओर ध्यान तक न दिया। 'जितनी चादर, उतने ही पैर फैलाओ' कहावत हम चारों भाई-बहनों के हृदय का शिलालेख बन गई है।

अपनी बड़ी बहन 'अक्का' तथा ताई को मजदूरी करते हुए मैंने अपने बचपन से देखा है। रात देर तक ताई कपड़े सिला करती और अन्ना खेती में ध्यान देते। दो वक्त की रोटी आराम से जुट जाती हमारी। स्कूल से लौटने के बाद बकरियों, मुरगियों की ओर ध्यान देना मेरा काम था। सिले हुए कपड़े ग्राहक को पहुँचाना, छोटे-मोटे कामों में अन्ना की मदद करना मेरा रोज का काम था। मेरी दो छोटी बहनें ऊषा और प्रतिभा को भी मैं ही संभालता था। मुझे याद है कि विवाह के मौसम में ताई के पास सिलाई का काम बढ़ जाता था। पूरे गाँव में चोली (अंगिया) सिलने का काम सिर्फ ताई को ही आता था, अतः तमाम वृद्धाएँ चोली सिलाने सिर्फ ताई के पास ही आती थीं।

'अक्का' तो ताई की प्रतिरूप ही थी। बचपन से वह स्कूल भी जाती थी और लोगों के खेतों में काम भी करती थी। सभी के लिए भोजन भी वही बनाती थी। ताई-अन्ना को उसका बड़ा सहारा था। कुछ बड़ी हो जाने पर वह पास के गाँव 'भातखेड़ा' में सब्जी-भाजी बेचने जाने लगी। वह पैसे का सही-सही हिसाब भी रखती थी। यदि काम और पढ़ाई के बाद समय बच जाता तो वह सिलाई भी करती थी। इन तमाम अच्छे गुणों की वजह से वह सबकी लाडली थी। सभी उसकी खूब प्रशंसा भी करते थे।

मेरी बात इसके ठीक विपरीत सिद्ध होती थी। ताई-अन्ना की मदद करना तो दूर, मैं उनके लिए सिरदर्द ही बन गया था। बचपन से सारा ध्यान मटरगश्ती की ओर रहा मेरा। खेलना-कूदना, भील दोस्तों के साथ मछली पकड़ना, गिल्ली-डंडा खेलना मेरी आदत बन गई थी। घर की किसी भी बात की ओर मेरा ध्यान न था। वैसे काम-काज में मैं कभी पीछे हटता न था, क्योंकि वही हमारी गरज भी थी। परंतु मटरगश्ती से फुरसत कहाँ?

आज भी मुझे मेरा पहला काम अच्छी तरह से याद है। उस समय मेरी उम्र रही होगी आठ-नौ वर्ष की। दीवाली के आस-पास खेतों में कपासी बीनने का काम जोरों पर चलता। मजदूर मिलना भी कठिन हो जाता था। ऐसे समय में बच्चे

भी खेत के काम में लग जाया करते थे। अक्का तो बहुत छोटी उम्र से कपासी बीनने का काम करती रही। उस समय एक दिन की मजदूरी 4 रुपए होती थी। दीवाली की छुट्टियाँ चल रही थीं और यह काम मैं आसानी से कर सकूँगा, पैसे भी कमाऊँगा इसका विश्वास भी था मुझे। माधव भैया का न्योता सबसे पहले आया। मुझे काम पर आने की अनुमति भी माधव भैया ने दे दी। बस, मेरे काम की शुरुआत हो गई।

इस काम में अनोखा आनंद आने का असली कारण तो और ही है। कपास के खेत में कपास के साथ-साथ तुअर भी बोई जाती है। सारे खेत में ककड़ी की बेलें फैली रहती हैं। खेत की मेड़ पर बेर के पेड़ भी होते थे। बड़े मजदूरों को दो कतारें रुई बीनना अनिवार्य था और छोटे मजदूरों को एक कतार दी जाती थी। अपनी कतार की कपासी चुनने का काम बड़ी कुरती से निबटाकर मैं कच्ची तुअर, ककड़ी, बेर आदि छककर खाया करता था। अपने हमउम्र दोस्तों के साथ गाना गाने में, गपशप करने में और कभी-कभी झगड़ा करने में समय कैसे बीत जाता था, पता ही नहीं चलता!

खेत में काम करनेवालों के बीच अलग-अलग विषयों पर बातचीत हुआ करती थी। घर की बहुओं को घर की तकलीफों से कुछ राहत मिल जाती थी। सास के द्वारा दी जानेवाली यातनाओं के चर्चे बहुओं के बीच दबी जुबान में होते थे। इससे उनका मन हलका हो जाता था। खाने-पीने में, लेने-देने में किया गया भेदभाव, मायकेवालों की उड़ाई जानेवाली खिल्ली, दहेज को लेकर कही गई कड़वी बातों की चर्चा भी चलती थी। कुछ बहुओं को मायके में उपजी समस्याओं का दुःख घेरे रहता था, उसकी भी चर्चा दबी जुबान में चलती थी। कभी-कभी बातचीत का रुख गंभीर समस्याओं के प्रति रहता। ससुर अथवा जेठ-देवर की बुरी नजर, पति से रात में भी मिलने पर लगनेवाले अड़ंगे आदि-आदि। बड़ी धीमी आवाज में यह सारा आपस में बयान होता था। जिन बहुओं के मायके में आर्थिक स्थिति अच्छी होती थी, वे अपनी अकड़ में ही रहतीं और हमेशा अपने मायके के बखान में लगी रहतीं।

दूर के रिश्ते की मेरी एक भाभी थी। हमारे साथ ही खेत में काम करने आया करती थी वह। उसका पति बड़ा ही गुस्सैल स्वभाव का था। रोज-रोज भाभी की पिटाई किसी-न-किसी कारण से अवश्य होती थी। कभी खाना अच्छा न बनने का बहाना, कभी कोई शक! कुछ-न-कुछ बहाना उसे अवश्य मिल जाता था। फिर भाभी बेचारी सूजन भरे चेहरे से, कटे होंठ से अथवा माथे पर जख्म लिये काम पर आ जाती थी। बड़ी मजबूर हालत थी उसकी। खेत में पहुँचते ही खूब रो लिया करती थी बेचारी। कुछ वर्षों बाद तो उसकी रुलाई भी जैसे थम गई। पिटना उसका भाग्य बन गया था। उसका पति बड़ा ही मुँहजोर और हट्टा-कट्टा होने की वजह से उसके रास्ते कोई जाता न था। अब भाभी के बेटे जवान हो गए

हैं। पिता के गुराँते ही वे माँ को बचाने के लिए अब पिता के ऊपर दौड़ जाते हैं। अब उसकी बोलती बंद है।

खेत में वृद्धाओं का अपना एक जमघट था। वे भी घर की समस्याओं की मारी होतीं। बहुओं के व्यवहार से परेशान रहतीं। खाने-पीने में बरता गया भेदभाव, बीमारी की ओर की गई आना-कानी, पलटकर जवाब देने की बहुओं की आदत आदि से वे खूब परेशान रहतीं। असहाय सी हो जातीं। रोकर अपने मन का गुबार प्रकट कर लेतीं और राहत पातीं। कभी-कभी खेती के मुद्दों पर आपसी कलह भी उपजता। बात हाथा-पाई तक पहुँच जाती। इतनी सारी विविधता खेत में पाई जाने की वजह से खेत में काम करना बड़ा ही मनोरंजक लगता था।

खेती के कामों से मुझे जो पैसा मिलता, उससे दीवाली में नए कपड़े सिलवाने में, आखा तीज की छुट्टियों में नई पुस्तकों के खरीदने में आसानी हो जाती। इसके साथ ही कई बार मैं 'अक्का' के साथ सब्जी-भाजी बेचने भी जाया करता था। रात में अन्ना के साथ खेतों में पानी देने (सींचने) के लिए भी जाता था। यदि खेती का कोई काम अधिक महत्वपूर्ण लगता, तब स्कूल के बजाय खेत की राह निकल जाना पड़ता था।

इन कामों में एक बहुत बड़ी परेशानी यह थी कि मुझे मुँह अँधेरे ही नींद से जबरदस्ती उठना पड़ता था। भोर की गहरी नींद से जागना तो मुझे किसी सजा से कम न लगता था। सूरज उगने से पहले ही अक्का के साथ भातखेड़ा पहुँचते थे हम। किसी दिन यदि देरी से पहुँचते, तो बिक्री पर असर पड़ता। औरों की सब्जियाँ पहले ही बिक जाती थीं। इसीलिए सुबह-सुबह उठकर जाने को मैं टालता भी था। कोई-न-कोई बहाना बना देता था मैं। कभी-कभी रो भी देता था, परंतु अक्का के साथ जाना अनिवार्य सा था।

यही बात अन्ना के साथ खेत पर रात में जाने की भी। कुएँ में पानी कम होता और खेत के साझेदार कई रहते थे, इस वजह से खेतों में रात के समय सिंचाई करनी पड़ती थी। तब मुझे अन्ना के साथ जाना अनिवार्य हो जाता। खेत पर पहुँचते ही मैं कथरी बिछाकर लेट जाता, अन्ना मुझे जगाते। हम दोनों घर लौट आते, परंतु नींद उचट जाने से मैं परेशान हो जाता। बुरा भी लगता, परंतु अन्ना के आगे कुछ कहने की हिम्मत मुझ में नहीं थी।

सारे गाँव में उन दिनों मैं एक ऊधमी, आवारा लड़के के नाम से मशहूर था। शरारती तो इतना था कि मेरे झगड़े घर की देहरी तक भी आ जाते थे। परिवार के सभी लोगों के खेत पर निकल जाने के बाद मुरगियों, बकरियों की जिम्मेदारी मुझ पर होती थी; परंतु मेरा अधिकतर ध्यान खेलों में लगा रहता था। सारे गाँव में एक ही घर में उन दिनों टी.वी. था। शनिवार, इतवार की शाम अशोक तात्या के घर सिनेमा देखने भाग जाया करता था मैं।

शनिवार का दिन था। घर के सभी लोग खेत में जवार की कटाई में व्यस्त थे। मेरा स्कूल जल्दी छूट गया था। मैं टी.वी. देखने दोपहर में ही भाग गया। वहाँ

सिनेमा देखने में इतना मगन हो गया कि समय का ध्यान ही न रहा। शाम साढ़े सात बजे घर लौटा तो अँधियारा छा गया था। सारी मुरगियाँ दरवाजे में इकट्ठा होकर शोर मचा रही थीं। अँधियारे में बिल्ली ने दो मुरगियों को खा लिया था। माँ जब घर लौटी, तो मेरे इस अपराध के लिए फिर मेरी जो 'धुलाई' हुई, उसके क्या कहने!

मुझे खेलों में बड़ी रुचि थी। क्रिकेट, गुल्ली-डंडा, कबड्डी, कंचे आदि खेल खूब अच्छे लगते थे। क्रिकेट में मेरा मन सबसे अधिक लगता है। हम सारे दोस्त घंटों क्रिकेट खेलते रहते। सारे दोस्तों के घरों के बड़े लोगों (मेरे घर के भी) के लिए हमारा क्रिकेट एक सिरदर्द बन गया था। सभी लोगों की धारणा थी कि खेलों से जीवन नहीं बनता है। उसे व्यर्थ समय गँवाना माना जाता था। हम लकड़ी के लंबे पटिए को बैट बनाकर खेलते थे। ताई को क्रिकेट से बड़ी चिढ़ थी। गलती से भी घर में बैट आ जाता तो वह चूल्हे के काम आ जाता, इसीलिए मेरा कोई भी दोस्त भूले से भी अपना बैट मेरे घर में नहीं रखता था।

खानदेश के ग्रामीण इलाके में 'चिलीपाटी' नामक कबड्डी जैसा खेल खेलने का बड़ा रिवाज है। लड़कों की दो पार्टियाँ होती हैं। आँगन अथवा मैदान के बीच एक रेखा खींची जाती है। एक पार्टी रेखा के इस ओर तो दूसरी पार्टी दूसरी ओर एक कतार में खड़ी हो जाती है। जिस लड़के पर दाँव आया है, उसे दूसरी पार्टी अपनी ओर खींच लाने की भरसक कोशिश करती है। उस लड़के का संबोधन 'चिली' होता है। यदि 'चिली' दूसरी पार्टी में खींच लिया जाता है, तब उसकी पार्टी हार जाती है। खींचनेवाले जीत जाते हैं और खेल खत्म हो जाता है।

इस खेल में यदि मैं 'चिली' चुना गया, तो हार निश्चित होती थी। विलास नामक मेरा दोस्त गिड्डा और चपल था। वह 'चिली' बनने पर शर्तिया जीत जाता था। इस खींचा-तानी में झगड़े भी हो जाते थे, क्योंकि हाथ-पैर को खींचने से लड़के कभी-कभी आहत भी हो जाते थे। जीतने के लिए 'चिली' को ढकेला भी जाता था। तब गाली-गलौज भी हो जाती थी। एक बात सच है कि क्रिकेट की वजह से चिली-पाटी का खेल अब कम खेला जाता है।

गुल्ली-डंडा और कंचे (काँच की गोटियों का खेल) प्रमुख खेल होते थे। परंतु इन दोनों खेलों में आपसी झगड़े भी बहुत होते थे, क्योंकि खेल के सच-झूठ में कई आशंकाएँ पैदा हो जाती हैं, जो झगड़े का, मार-पीट का कारण बन जाती हैं। यही बात कबड्डी के खेल में भी होती थी। 'कबड्डी-कबड्डी' कहते हुए दौड़नेवाले खिलाड़ी की साँस फूल जाने पर ताँता टूट जाता और वह साँस भर लेता और फिर यह बात झगड़े की जड़ बन जाती। जो टीम हारने लगती उसके खिलाड़ी बहाना बनाकर भाग जाते। फिर झगड़ा छिड़ जाता। मेरे घर में खेल के प्रति हमेशा मार्शल लॉ लगा रहता। यदि गलती से भी ताई के हाथ गुल्ली-

डंडा आ गया तो वह तुरंत चूल्हे में बलि चढ़ जाता और एकाध रोटी सेंककर शहीद हो जाता।

कंचे खेलने में मैं बड़ा माहिर था। मेरा निशाना चूकता न था, अतः मेरे पास 'कंचों' की अच्छी दौलत इकट्ठा हो जाती। उन्हें छिपाना, सँभालना मेरे लिए बड़ा कठिन काम बन जाता। यह खेल गाँव के गिने-चुने; आवारा, ढीठ लड़के ही खेला करते। जो बच्चे 'राजा बेटा' कहलाते थे, वे अपनी देहरी भी पार नहीं करते थे। सभी की नजरों में प्यारे, लाडले, समझदार बने रहते। और वे जीवन में आगे भी वे देहरी के अंदर ही बने रहे। अपने जीवन में कोई भी प्रशंसनीय कार्य वे कर नहीं पाए। मुझे बचपन में उनसे ईर्ष्या होती थी।

बचपन में मैंने एक और खेल देखा है, जिसे 'बधिटाक' कहते हैं। इसमें खेल कम, जुआ अधिक है। इस खेल का तरीका यह है कि जमीन में एक छोटा सा गड्ढा बनाया जाता है। जितने खिलाड़ी इसमें हिस्सा लेते हैं, उतने ही सिक्के इस खेल में इस्तेमाल होते हैं। बारी-बारी से एक-एक खिलाड़ी इसे खेलता है। जितने खिलाड़ी हैं, उतने सिक्के पहला खिलाड़ी अपनी मुट्ठी में रखेगा और तय की गई जगह से उस गड्ढे में फेंकेगा। कुछ सिक्के गड्ढे में गिर जाते हैं, कुछ आस-पास बिखर जाते हैं। उसी खिलाड़ी को एक नियत दूरी से एक लक्षित सिक्के को पत्थर से मारना है। यदि उसका निशाना सही बैठता है, तब गड्ढे के सारे सिक्के उसके हो जाते हैं। यदि पत्थर गड्ढे में जा गिरता है, तब उसे कुछ नहीं मिलता है और यदि पत्थर किसी दूसरे सिक्के से टकराता है तब जुरमाने के तौर पर खिलाड़ी को अपनी जेब से एक सिक्का गड्ढे में डालना पड़ता है। जिस पत्थर से यह खेल खेला जाता है, उसे 'दाँव' कहते हैं।

इस खेल में उम्र का कोई महत्व नहीं है। छोटे से लेकर बड़ों तक कितने ही लोग इसे एक साथ खेल सकते हैं। 'बधिटाक' खेल की कोई प्रतिष्ठा नहीं है, इसे जुए की नजर से ही सभी देखते हैं। जाने-माने परिवारों के लोग अथवा बच्चे इस खेल की ओर देखते तक नहीं हैं। मैं इसे खूब छककर खेला करता था। कई बार जीतता भी था। हार जाने पर दोबारा पैसे हाथ में आने तक हाथ मलता इंतजार करता रहता था। पर इस खेल में खूब मजा आता था।

एक समय तो ऐसा भी आ गया कि मैंने हद ही कर दी। इसका बुरा असर मेरे आचरण पर भी पड़ा था। अन्ना, ताई, अक्का सारा दिन खेत पर होते थे। स्वाभाविक रूप से मुझ पर कुछ जिम्मेदारियाँ आन पड़ी थीं। जैसे मुरगियों को दड़बे में रखना, बकरियों को बाँधना। चूल्हे के पास लकड़ियाँ, कंड़े लाकर रखना। दीया बत्ती करना (जलाना)। चक्की से अनाज पीसकर लाना आदि-आदि। परंतु मेरी आना-कानी जारी ही रही। मन लगाकर सारे काम शायद ही पूरे कर पाता मैं। कुत्ते की दुम की तरह टेढ़ा बरताव हो गया था मेरा। छुट्टी के दिन खेत में काम करना अनिवार्य था, अतः उस दिन 'बधिटाक' न खेलना मेरा महान् त्याग ही होता था। यानी त्याग करना पड़ता था।

मेरे सारे दोस्त भी मुझ जैसे ही कामचोर, ऊधमी थे। उन्हें भी अपने परिवारजनों का गुस्सा सहना पड़ता था। हम लोगों को एकत्रित होकर मिलना भी कठिन हो गया। तब हमने इस पर एक उपाय सोचा। सांकेतिक बातें तय कर लीं। यानी खास आवाज में चीखते हुए दोस्त के घर के सामने से गुजरना, सीटी अथवा ताली बजाना आदि-आदि। हम आपसी इशारों को समझ लेते और इकट्ठे हो जाते। परंतु दुर्भाग्य से ताई, अन्ना भी इस सांकेतिक भाषा का मतलब समझने लगे थे।

वे फसल कटाई के दिन थे। बड़ी मुश्किल से ताई दो-तीन मजदूरों का इंतजाम कर पाई थी। फसल की कटाई और दँवरी सर्वाधिक महत्वपूर्ण काम माना जाता है खेती में। इसका कारण यह है कि इसी पर साल भर के अनाज की बरकत निर्भर करती है। ताई हमेशा एक कहावत सुनाया करती थी, जिसका अर्थ है —‘यदि घर में किसी की मौत भी हो जाए, उसके शव को ढक दो, पहले बुवाई-कटाई करो...’।

ताई ने उस दिन सुबह-सुबह फरमान जारी कर दिया था—खेत में मजदूर आने से पहले कंडे लेकर खेत में पहुँच जाओ। उसके कुछ समय पहले मुझे संदेशा मिला था दोस्तों का कि भातखेड़े की टीम से क्रिकेट का आज मैच है। ताई ने वह ‘इशारा’ पहले ही बूझ लिया था। मेरा मन अब संकट में पड़ गया। माँ ने चेतावनी दी, ‘यदि खेलने गया तो टाँग तोड़कर हाथ में रख दूँगी। चुपचाप खेत पर पहुँचो!’ मैं सिर झुकाए चुपचाप नाश्ता करता रहा।

खेत की ओर मैं निकल पड़ा, परंतु मेरा सारा ध्यान मैच में लगा हुआ था। एक पल आँखों के आगे मैच दिखाई दे जाता, तो दूसरे पल ताई का चेहरा उभर जाता। ताई का गुस्सा और पिटाई तो मेरे लिए नई बात थी नहीं। उसके लिए मैं तैयार था, क्योंकि मन में मैच का विचार इशारा कर रहा था कि प्रमुख ‘बॉलर’ के बगैर तो तुम्हारी टीम हार जाएगी। मैच खेलने का मेरा इरादा पक्का हो गया। ताई से पिटने की मानसिक तैयारी भी पक्की हो गई। कंडे खेत में फेंककर मैं खेलने के लिए भाग गया। शाम की बात शाम को देखी जाएगी।

मेरे पहुँचने से पहले मैच शुरू हो गया था। हमारी टीम बैटिंग कर रही थी और हमारा एक खिलाड़ी आउट हो जाने के बाद मैं बैटिंग के लिए मैदान में उतरा।

इधर ताई जब खेत में पहुँची, पल भर में बात को समझ गई। इतना सारा धमकाने पर भी अधिक महत्वपूर्ण काम को छोड़कर मैं खेलने भाग गया, यह बात ताई को अखर गई। वह आगबबूला हो गई। उसने मजदूरों को काम पर लगाया और एक लंबी लकड़ी लेकर यह कहती हुई, ‘देखती हूँ कैसे मैच खेलेगा अब!’ वह रणचंडी का अवतार धारण कर खेत से निकल पड़ी।

जहाँ मैच चल रहा था, वहाँ मेरे साथियों ने दूर से ही ताई को देख लिया था। उसके मैदान में प्रवेश करते ही कोई चिल्लाया, ‘बापू, तुम्हारी माँ तुम्हारी पिटाई करने आ गई!’ मैं समझ गया। बैट को वहीं फेंककर जी जान से दौड़ पड़ा। ताई

ने गुस्से से बड़बड़ाते हुए कुछ दूरी तक मेरा पीछा किया भी, परंतु फिर वह लौट गई। ताई का यह उग्र रूप मैं पहली बार देख रहा था। यह सारा तमाशा गाँव के लोग और बाहर से आए खिलाड़ी देखकर दंग रह गए। उस शाम मेरी जूते से इतनी पिटाई हुई कि उसके स्मरण मात्र से आज भी मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

ताई स्वभाव से पूरी ईमानदार थी, परंतु किसी को उलटा-सीधा कहना, लौटकर जवाब देना वह सह न पाती थी। यह भी सत्य है कि उसका आचरण इतना शुद्ध होता था कि कोई कुछ कहे, ऐसा मौका वह किसी को देती भी न थी, परंतु मेरा आचरण ठीक इससे उलटा होता था। झूठ बोलना, समय से कोई भी काम न करना, पढ़ाई तथा घर की ओर ध्यान न देना आदि की वजह से ताई के मन को ठेस पहुँचती थी। मेरी वजह से उसे लोगों के उलाहने सुनने पड़ते। अन्ना भी उसे ही दोष देते थे। एक बार मेरी किसी शैतानी से नाराज होकर अन्ना ने मुझ पर बड़ा लोटा फेंक मारा था। मेरा नसीब अच्छा था कि उनका निशाना चूक गया। ताई और अन्ना के बीच उस दिन बड़ा झगड़ा हो गया। उसी दिन अन्ना ने साफ तौर पर कह दिया, “तुम जानो और तुम्हारा बेटा जाने! तुम्हें जो करना है, करो!”

अब मुझमें सुधार लाने की सारी जिम्मेदारी ताई पर आ गई। पर मेरा रवैया वही रहा। रोज-रोज की शैतानियाँ। ताई को शाम के समय सारी बात पता चल जाती थी। फिर वह सारे दिन की थकावट और आया हुआ गुस्सा मुझ पर उतारती। चप्पल, लकड़ी, हाथों से मेरी पिटाई होती। कई बार वह मुझे रात के भोजन से भी वंचित रखती। सुबह काम पर जाने से पहले मुझे हिदायत देती, ‘आज यदि खेलने गया तो शाम की रोटी नहीं मिलेगी!’ ऐसी धमकी के बावजूद मैं खेलने निकल जाता था। फिर शाम को मुझे घर में प्रवेश नहीं मिलता था। घर के सामने नीम के पेड़ तले मैं जा बैठता। फिर आस-पास के घरों में मेरी खिल्ली उड़ाई जाती। वहाँ से गुजरनेवाले मुझसे पूछते, ‘क्यों बापू! आज ताई के हाथ का प्रसाद खाया कि नहीं?’ इस प्रकार से वे मुझे चिढ़ाते थे। सब का भोजन हो जाने के बाद यदि ताई को दया आ जाती तो वह अक्का से मुझे परोसने के लिए कहती। कभी-कभी सारी रात भूखा भी रखती थी। सारा घर सो जाने के बाद मैं भी चुपचाप अपनी कथरी पर लेट जाता। इस प्रकार से चुपचाप लेट जाने पर भी मैंने ताई की लातें सही हैं। ताई को एक ही चिंता लगी रहती थी कि इतना समझाने पर, सजा देने पर भी यह लड़का सुधरता क्यों नहीं हैं।

ताई का कभी किसी से झगड़ा न होता था, परंतु जब मेरी शिकायतें लेकर कोई घर आ जाता तब वह मुझसे खूब नाराज हो जाती। एक बार ताई ने मुझे साफ-साफ कह दिया कि अपने झगड़े खुद निपटाओ। मेरे पास किसी की शिकायत आनी नहीं चाहिए। इसके बाद मैं वाकई अपने झगड़े बाहर ही मिटा लेता था। यदि सामनेवाला मुझसे उम्र में बराबरी का है, अथवा छोटा है, तब मैं खुद ही उसकी इतनी धुलाई कर देता था कि वह मेरे घर शिकायत करने की हिम्मत नहीं

कर पाता था और यदि पाला किसी बड़े से पड़ जाए, तब मैं चुपचाप मार खा लेता और रो भी लेता था।

अपने जीवन में मैंने ताई जैसे विचारों की, स्वभाव गुणों वाली किसी अन्य महिला अथवा व्यक्ति को नहीं देखा है। मजदूर परिवार में जन्म। बचपन के हँसने खेलने के दिनों में उस पर पड़ी जिम्मेदारियाँ। कच्ची उम्र में लादा गया विवाह का बोझ। गरीबी में झुलसता जीवन। शीघ्र कुपित और ताई के स्वभाव के ठीक विपरीत स्वभाववाला पति। मायके से अथवा परिवार से किसी प्रकार की मदद नहीं, ऐसी हालत में ताई के विचारों-आचारों में प्रकट होती सच्चाई, ईमानदारी, मानसिक प्रबलता, विवेक और सकारात्मक दृष्टिकोण वाकई चकित कर देनेवाले स्वभाव-गुण रखनेवाली मेरी ताई बेजोड़ है।

ताई मूलतः स्वाभिमानी होने की वजह से वह किसी की अकड़ अथवा धृष्टता के आगे कभी नहीं झुकी। सच्ची और सही बात को किसी के मुँह पर कह देने से वह कभी डरती न थी, अतः स्त्रियों का सम्मान न रखनेवाले, उनकी शालीनता का अनुचित लाभ लेनेवाले लोगों के आगे वह कभी झुकी भी नहीं। ऐसे लोगों ने उसे झुकाने की कोशिश भी की, परंतु ताई के आगे उनकी दाल कभी गल न पाई।

ग्रामीण जीवनशैली अलग तरीके की होती है, जिसके कई कारण हैं। ग्रामीण महिलाएँ अधिकतर सहनशील और स्वभाव से मृदु होती हैं। परिस्थिति के चलते उन्हें घंटों अलग-अलग विषयों पर बतियाते रहना, दूसरों के व्यक्तिगत मामलों की चर्चाओं में रस लेना, चुगली करना आदि की स्वाभाविक तौर पर आदत लगी होती है, जो स्वाभाविक भी कहा जा सकता है। पुरुष-प्रधान संस्कृति में उनके विचारों से हमेशा सहमत (ही) होना, समझौता कर लेना, यही आम जीवन होता है ग्रामीण इलाके में; परंतु मेरी ताई इन सभी से सर्वथा भिन्न स्वभाव की रही है। भले ही किसी को गुस्सा आ जाए, वह खरी-खरी सुनाने में कदापि नहीं डरती थी। अपना मत स्पष्ट तरीके से सामने रखने की हिम्मत उसमें हमेशा से रही है। चुगली करना, झूठ बोलना, किसी की हाँ में हाँ मिलाना, उसका स्वभाव कभी नहीं रहा। इसी वजह से अधिकांश लोग (स्त्रियाँ भी) उससे सँभलकर ही रहते थे।

अत्यधिक गरीबी की चपेट में झुलसते हुए भी, अपनी फटी गृहस्थी में सौ-सौ पैबंद लगाने की स्थिति में भी ताई ने अपना ईमान कभी खोया नहीं। अपने बस के बाहर की बातों की प्राप्ति का अट्टहास भी नहीं किया, ईर्ष्या भी नहीं की। अपनी कड़ी मेहनत से जो पाया, उसी में वह संतुष्ट थी और आज भी है। उसकी इस सच्चाई और ईमानदारी से कई स्त्रियाँ चकित रह जाती थीं। ईर्ष्या भी करतीं ताई से और द्वेष भी। कड़ियों का ताई के सामने पर्दाफाश हो जाता तो कई स्त्रियाँ ताई से वाद-विवाद में पूरी तरह से हार जातीं और इसी वजह से वे उसके सान्निध्य में बेचैनी महसूस करतीं।

अत्यंत साधारण झोंपड़े में अति सामान्य लोगों के साथ रहते हुए, शिक्षा का पूरा-पूरा अभाव रहते हुए भी कोई व्यक्ति इतना विचारवान कैसे हो सकता है? अपने बस से कहीं बाहर रहनेवाली बातों को बिलकुल सहजता से, सुंदरता से कैसे समझा जा सकता है? मेरे लिए यह एक पहेली ही है। मेरी ताई ठीक ऐसी ही है। समझ आने के बाद मेरे जीवन के अगले प्रवास में जब मैं मुश्किलों से घिर जाता, ताई का वैचारिक बल हर पल मेरे साथ होता था। फिर चाहे परीक्षाओं से सामना करने का प्रसंग हो अथवा असफलता की समस्या हो, ताई का एक-एक शब्द दिलासा देता था। हिम्मत बढ़ाता था, मन हलका कर देता था।

हम चार भाई-बहनों में मैं एकमात्र भाई था। बाकी तीन बहनें। परंतु मेरे माता-पिता ने लड़का-लड़कियों में कभी कोई भेदभाव किया नहीं। सच तो यह है कि मेरी आवारागर्दी और शैतानियों की वजह से मेरे साथ उनका सुलूक बड़ा ही कठोर रहा करता था। मेरी छोटी बहन प्रतिभा के जन्म के बाद तो अन्ना ने ताई को बहुत परेशान किया, तकलीफ भी दी। उन्हें और मेरी दादी को बेटे ही से आस लगी थी। उन्हें मेरा 'जोड़ीदार' चाहिए था। इसी वजह से बेचारी प्रतिभा की ओर ध्यान नहीं दिया गया। वह गोरी-चिट्ठी सुदृढ़ बालिका थी, इसीलिए इस आनाकानी का उस पर कोई असर नहीं पड़ा।

मुझे सुधारने के इरादे से ताई के कठोर व्यवहार की कुछ स्मृतियाँ आज भी मेरे मानस पटल पर उजागर हो जाती हैं। तब मेरी उम्र दस-बारह वर्ष की रही होगी। मुझे जुआ खेलने की बुरी लत लग गई थी। यह खेल चोरी-छिपे ही चलता था। मैं जुए में जीते पैसे ही जुए में लगाता था। हाई स्कूल के हम सभी छात्र एरंडोल बस से आया-जाया करते थे, क्योंकि हाई स्कूल वहीं पर था। गाँव के लोगों की छोटी-मोटी वस्तुएँ भी हम छात्र उनके पैसे से ला दिया करते थे। एक दिन गाँव की एक महिला ने अपने बच्चे की दवाई लाने के लिए मुझे पैसे दिए थे। उन पैसे को मैंने जुए के दाँव में लगा दिया और दुर्भाग्य से हार भी गया। दो-तीन दिन तक दवाई न लाने का बहाना जैसे-तैसे निभ गया। ताई के ध्यान में आते ही उसने उस महिला के सामने मेरी जमकर पिटाई की और सच को जान लिया। मुझे घर पर रुकने की आज्ञा हो गई। रोज खेत पर काम करना पड़ा। जब मैंने उनके सारे पैसे लौटा दिए, तब कहीं स्कूल जाने की इजाजत मिली।

दूसरी घटना का स्मरण तो आज भी मेरे रोंगटे खड़े कर देता है। सर्दी के दिन थे। छमाही परीक्षा निकट थी। स्वर्गीय राजकपूर की स्मृति में दूरदर्शन पर रात में रोज एक फिल्म दिखाई जाती थी। उस दिन 'बॉबी' दिखाई जानेवाली थी। शाम को दोस्तों ने आपस में तय कर लिया कि रात आठ बजे तक पार्क पर इकट्ठे हो जाना है। दस बजे तक खेल कर अशोक तात्या के घर टी.वी. देखना है।

मैं खाना खा रहा था कि किसी ने सीटी बजाकर याद दिलवा दी। ताई तुरंत समझ गई कि कोई कार्यक्रम अवश्य है। मैंने अनजान बनते हुए अपना भोजन

जारी रखा। माँ ने चेतावनी देते हुए कहा, “इम्तिहान सिर पर हैं। जो तू बाहर गया न, तो तुझे घर में घुसने न दूँगी मैं! क्या समझा?”

दूसरे दिन छमाही परीक्षा का पेपर था। परंतु पढ़ाई से मेरा मन कब का उचट गया था। अब तो सिनेमा की धुन लगी थी। वैसे भी मुझे परीक्षा की चिंता नहीं थी, कोई उपाय सूझ न रहा था निकलने का। फिर पाखाने के बहाने बाहर आया और सीधे दोस्तों से जा मिला।

सिनेमा शुरू होने तक हम पार्क पर खेलते रहे और बाद में टी.वी. के सामने जा बैठे। ऊँघते-ऊँघते रात दो बजे तक सिनेमा देखा और घर की राह पकड़ ली। अब मुझे असलियत का ध्यान आया। बाहर कड़ाके की सर्दी थी। लौटते समय ताई का चेहरा आँखों के सामने तैर गया। ताई तो घर के अंदर लेने से रही, यह जानने पर मेरे एक दोस्त ने मुझसे कई बार विनती की कि आज रात मेरे घर चलो। सुबह जल्दी अपने घर निकल जाना; परंतु मेरा स्वाभिमान मुझे ऐसा करने से रोक रहा था।

मैं जैसे-तैसे घर के करीब पहुँचा। दरवाजा खटखटाने की हिम्मत जुटा न पाया मैंने बाहर के ओसारे में लेटने का विचार कर लिया, परंतु ओसारे की हालत भी बदतर थी। उसी दिन उसकी लीपा-पोती की गई थी अतः जमीन बिलकुल ठंडी पड़ गई थी। बदन पर सिर्फ एक फटी कमीज थी। उसमें सर्दी निभाना तो कठिन ही नहीं, महा कठिन बात थी।

ओसारे के कोने में मसाले पीसने की चक्की थी, जिसमें से दालों, मसालों की तीखी गंध आ रही थी। उसे एक छोटी सी बरसाती से ढका गया था। मैंने उसी का आसरा लिया। आधी बरसाती बिछा ली और आधी ओढ़ ली। मिर्च की तीखी गंध से परेशान हो गया, अतः मुँह यानी चेहरा खुला ही रहने दिया और मैं सो गया। परंतु संकटों से पीछा अभी भी छूटा न था। अब चेहरे को मच्छर काटने लगे। मेरी नींद खराब हो गई। मैं बार-बार करवटें बदलता रहा। अपनी करनी का अब मुझे पछतावा हो रहा था। सुबह पाँच बजे के करीब जरा मेरी आँख लगी ही थी कि मेरी कमर पर एक जोरदार लात पड़ी। मैं हड़बड़ाकर जागा ही था कि दूसरी लात भी पड़ी। मैं तेजी से उठा और भागने लगा। माँ की ऊँची आवाज ने, गाली-गलौज ने पूरे मुहल्ले को खबर दे दी कि बापू ने जरूर कुछ बखेड़ कर दिया है। किसी ने इस ओर ध्यान न दिया और अपने-अपने काम में सभी जुट गए। सिनेमा की इस घटना ने मुझे अच्छा मजा चखाया था।

ताई के स्वभाव के तीन खास गुण थे—धीरज, साहस और दृढ़ता। किसी भी काम को करने से पहले वह उस पर सोचती थी। यदि काम उसे जँच जाता है, सही लगता है, तो उसे पूरा करने की वह ठान लेती थी। एक बार ठान लेने पर वह इस बात की चिंता कदापि नहीं करती कि लोग उसे क्या कहेंगे!

उस दिन ताई खेत से कुछ जल्दी घर आ गई थी। सूप में अनाज फटकने के लिए ओसारे में बैठी थी। अपनी मँझली बहन ऊषा के साथ मैं खेल रहा था।

बात-बात पर हम दोनों में झगड़ा भी हो रहा था। वह चीखकर बार-बार ताई से शिकायत कर रही थी। ताई ने झगड़ा बंद करने का इशारा देते हुए मुझे तीखी नजर से देखा भी, परंतु मैंने ध्यान नहीं दिया। अंत में मैंने गुस्से से अपनी बहन को एक चपत लगाई और आँगन के नीम पर सर्र से चढ़ गया।

मेरे बारे में एक गलतफहमी अवश्य थी कि गलती किसी की भी हो, दोषी मैं ही माना जाता था। उस समय का झगड़ा तो ताई के सामने ही हो गया था। मैं पेड़ पर चढ़ गया था, इसलिए मुझे सजा नहीं मिलेगी, इसी वजह से मेरी बहन और अधिक चीख-चीखकर रोने लगी। ताई ने उसे कहा भी कि बाद में मैं बापू को देख लूँगी, परंतु ऊषा मानने को तैयार नहीं थी। ताई का दिमाग गरम हो गया। मैं तो विराजमान था पेड़ पर!

ताई ने मुझे नीचे उतरने के लिए धमकाया। नीचे उतरने के परिणाम को मैं खूब अच्छी तरह से जानता था। ताई ने खूब धमकाया, फटकारा, पर मैं नीचे उतरा ही नहीं। तब ताई ने पड़ोसियों की लंबी सीढ़ी नीम के पेड़ से लगाई और ऊपर चढ़ आई। उसके हाथ में बेंत की लकड़ी थी। ताई को ऊपर चढ़ते देख मैं पेड़ की सबसे ऊँची शाखा पर जा पहुँचा। मुझे लगा था कि ताई इतनी ऊँचाई पर आ नहीं पाएगी, परंतु ताई ने तो मुझे सबक सिखाने की ठान ही ली थी मानो! वह मेरे पास पहुँच गई और गुस्से से मुझे बेंत से पीटना आरंभ कर दिया। हमारा शोरगुल सुनकर आस-पास के परिवार नीम के नीचे इकट्ठे हो गए। ताई को किसी की परवाह थी नहीं। वह अपना गुस्सा ठंडा होने तक मुझे पीटती रही।

यह एक ही औरत ऐसा कर सकती है इसमें किसी को कोई शक न था। कुछ लोग ताई की ओर से बोल रहे थे तो कुछ को उसकी कठोरता बिल्कुल अच्छी न लगी, वे सभी बुदबुदाते वहाँ से चल दिए। ताई के साथ विवाद करने की हिम्मत किसी में भी नहीं थी। इसका मुख्य कारण यह था कि उनकी करनी के लिए ताई भी उन्हें खरी-खोटी सुनाने से डरती न थी।

मेरे बरताव से सारा घर परेशान है, इस बात को मैं खूब समझता था। परंतु उम्र के हिसाब से मैं भी मजबूर था। यानी मैं भी चाहता था कि मुझे उन्हें खुश रखना चाहिए, परंतु उनकी मुझ से रही अपेक्षाएँ और मेरी अपनी रुचि में जमीन-आसमान का फर्क था। मुझे खेलना, दोस्तों के साथ घूमना अच्छा लगता था। घर के कामों में मेरा रुझान कम था। निरंतर पढ़ाई करते रहने की मेरी मानसिकता नहीं थी। घर में लोगों का अट्टहास होता था कि मैं सिर्फ वही करूँ, जो वे उचित समझते हैं और जो वे चाहते हैं।

मुझे उनकी इच्छा के विरुद्ध जाना पड़ता था। घर में कितना ही महत्वपूर्ण काम क्यों न हो, मेरे कदम अपने आप खेल के मैदान की ओर बढ़ जाते। ताई-अन्ना के निरंतर मेहनत में जुटे रहने की वजह से मेरी ओर ध्यान देने का समय उनके पास था ही नहीं। उनकी अपेक्षा होती थी कि उनकी बातों पर मुझे ध्यान

देना चाहिए। उनपर अमल करना चाहिए। परंतु मैं सदैव अपनी ही धुन में रहता था।

अपने माता-पिता को बचपन में मैंने कितना सताया है, इसका अहसास एवं स्मरण मुझे आज भी है। परंतु साथ-साथ यह भी स्मरण में है कि ताई ने कभी भी लाड़-प्यार से मुझे अपनी गोद में नहीं बिठाया, न कभी प्यार से सहलाया। मेरे साथ प्यार के दो शब्द भी नहीं बोले कभी ताई ने! ताई का यह व्यवहार इस बात को स्पष्ट कर देता है कि मैंने उन्हें बहुत अधिक सताया है। इसके बावजूद मेरा मन (उस उम्र में) आक्रोश करते हुए कहता था कि तुम अपने माता-पिता के इकलौते पुत्र हो, इस वंश के दीप हो। कभी तो ताई मुझे अपने अंक में भर ले, कभी तो मेरा भी उसी प्रकार से लाड़-प्यार करे, जैसी अन्य माताएँ अपने इकलौते बेटे का करती हैं। परायों के लाड़ देखकर मेरी यह भावना और अधिक तीव्र हो जाती थी।

परंतु इस बात का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू भी है। जब-जब भी मुझे मेरे अवगुणों का स्मरण होता है, तब-तब ताई और अन्ना के प्रति मेरा मन आदर की भावना से छलक-छलक जाता है। यदि समय-समय पर वे मेरे अवगुणों के लिए मुझे सजा न देते, कठोर बरताव न करते, तब मेरे तमाम अवगुण सारी उम्र मुझसे चिपके रहते। मैं कहीं का न रहता। यदि वे मेरे अवगुणों को छिपाते या लाड़-प्यार में उस बरताव की ओर आना-कानी करते! तब जीवन की गलत राह पर मैं निकल जाता, अच्छे मार्ग से भटक जाता! ताई अन्ना के अनुशासन में छोटी-से-छोटी गलत बात की, गलती की सजा अवश्य मिली थी।

तब मैं पहली कक्षा में था। रोज-रोज नहाना मुझे पसंद न था। सर्दी के मौसम में तो मैं नहाने से कतराता था। ताई से रोज सुबह इसी मुद्दे पर बहस भी हो जाती थी मेरी। कई बार मैं बिना नहाए चुपचाप स्कूल भाग जाता। मेरे पड़ोस में स्कूल के मास्टरजी 'बडिले' रहते थे। ताई ने उनसे शिकायत कर दी। उनकी डाँट खाने के बाद कुछ दिनों तक नहाकर स्कूल गया था मैं। बात यह थी कि मास्टरजी रोज मेरी करधनी छूकर देखते थे कि वह गीली है अथवा नहीं। नहाने से वह गीली होनी ही थी। फिर मैंने चालाकी शुरू कर दी। सिर्फ अपनी करधनी (कमर में बाँधा काला धागा) गीली कर लेता और बगैर नहाए स्कूल भाग जाता। नहाने की अच्छी आदत मुझे लग गई है, इसी भ्रम में मास्टरजी थे, खुश भी थे।

उस दिन भी मैं हमेशा की तरह बगैर नहाए स्कूल पहुँच गया। मेरी कक्षा के सभी लड़कों को मास्टरजी ने स्कूल के मैदान में इकट्ठा होने को कहा। मास्टरजी कभी-कभार मैदान में भी ले जाते थे, अतः हम सभी दौड़कर आँगन में पहुँच गए।

मास्टरजी ने सभी लड़कों को कतार में खड़े रहने का आदेश दिया। फिर एक चौकी मँगवाई। एक बालटी पानी और लोटा मँगवाया। सभी लड़कों को यह देखकर आश्चर्य भी हुआ। क्या होने जा रहा है, इसका किसी को अंदाजा नहीं हो रहा था। फिर मास्टरजी ने मुझे आगे आने को कहा। मास्टरजी ने मेरी पोल खोल

दी। मुझे शर्म आ रही थी। फिर मेरे कपड़े उतारे गए और पूरी कक्षा के सामने नहलाया गया। मैं शर्म से पानी-पानी हो गया। आँख उठाकर देखने की हिम्मत भी न कर पाया।

कई दिनों तक इसी बात पर मुझे लड़के चिढ़ाते रहे। इस घटना का अच्छा असर यह रहा कि बाद में मैं कभी भी बगैर नहाए स्कूल नहीं गया। कुछ दिनों बाद मुझे पता चल गया कि इस घटना की सूत्रधार ताई ही थी।

मेरी छोटी-छोटी बातों, आदतों पर ताई की बारीक नजर रहती थी। मुझे पुस्तकें पढ़ने का बड़ा शौक था। इसी वजह से स्कूल के ग्रंथपाल से मेरी दोस्ती भी हो गई। इसका फायदा यह रहा कि मुझे एक से अधिक पुस्तकें घर लाने की सुविधा हो गई। ताई जानती थी कि स्कूल में एक समय में सिर्फ एक ही पुस्तक दी जाती है। मेरे पास पुस्तकों का अंबार देखकर ताई के मन में आशंका पैदा हो गई। उसने वे सारी पुस्तकें तुरंत वापस कर देने पर मुझे मजबूर कर दिया।

ताई को चोरी और झूठ से बड़ी चिढ़ थी। जब हम बचपन में खेतों पर (दूसरों के) काम करने जाते थे, तब हमें मूँगफली चुराकर डिब्बे में भर लेने में बड़ा मजा आता था। उस समय यह भावना चोरी की न रहते हुए मजाक की ही होती थी। चुपके-चुपके मूँगफली खाने में बड़ा मजा आता था। परंतु ताई इस चोरी के सख्त खिलाफ होती थी। यदि गलती से भी ताई को चोरी की भनक लग जाती अथवा किसी के शिकायत करने पर हमारी खैर न होती थी। हमें करनी का फल अवश्य भुगतना पड़ता था।

मेरी इन्हीं गंदी आदतों की वजह से ताई-अन्ना को मेरे भविष्य की चिंता खूब सताती थी। हर तरह की कोशिश में लगे रहते थे बेचारे! डाँट-डपट, मार खाना तो रोज का काम था। कभी-कभी मुझे पीटते समय ताई भी रो पड़ती थी। ताई को रोते देख मुझे बहुत बुरा लगता था। परंतु यह पछतावा थोड़ी देर तक ही रह पाता था। फिर वही पुराना ढर्रा। मेरे गलत काम के लिए कभी-कभी पास पड़ोस के बड़े-बूढ़े भी मुझे डाँटते-फटकारते थे। उनके खिलाफ घर में शिकायत करने की मेरी हिम्मत नहीं थी। अंत में ताई मेरे अच्छे भविष्य के लिए कुछ व्रत (उपवास आदि) भी करने लगी। मांत्रिक (ओझा) से ताबीज भी ले आती। इन सबका मुझ पर कोई असर न पड़ा।

गाँव के पास 'मुंजोबा' नामक देवता का मंदिर भी स्थापित है। बच्चों की हर तरह से सुरक्षा हेतु, उनके उज्ज्वल भविष्य हेतु इस मंदिर में सभी माताएँ पूजा करती हैं। मन्नत भी माँगती हैं। साल की कुछ खास तिथियों पर घर के बच्चों के साथ कई दूसरे बच्चों को भी सम्मान के साथ भोजन पर बुलाया जाता है। 'मुंजोबा' को भोग लगाने के बाद सभी बच्चों को दूध-भात और गुड़ का भोजन करवाया जाता है। सभी बच्चों को एक कतार में पटों (पीढ़ों) पर भोजन के लिए बैठाया जाता था। उन्हें टोपी पहनाई जाती थी और घर की समस्त सुहागिन स्त्रियाँ बच्चों का पूजन करतीं, आरती उतारतीं और उन्हें श्रद्धापूर्वक नमस्कार भी

करती थीं। इस प्रकार के भोजन में जाना मुझे खूब अच्छा लगता था। मैं हमेशा न्योते की प्रतीक्षा में रहता था, परंतु कभी-कभी मेरे पल्ले निराशा भी आ जाती थी।

बच्चों का मुंडन करना, मन्तें पूरी करना, 'वीर' का पूजन करना आदि प्रथाएँ मेरे गाँव में, यानी खानदेश में हैं। यदि गाँव में किसी बुजुर्ग व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है, तब उसकी आत्मा की शांति के लिए 'वीर' नामक प्रतीकात्मक एक मूर्ति मंदिर में स्थापित की जाती है। फिर 'वीर' की झाँकी सजती है। गाँव के चार-पाँच लोग पुराने ढंग की सैनिकी पोशाक पहनते हैं, तलवार की नोक पर नींबू रखकर 'वीर' के आगे नाचते हैं। पोपली का बाजा बजता है और अंत में बकरे को बलि चढ़ाकर गाँव वालों को मटन का खाना खिलाया जाता है।

मुंडन की प्रथा का पालन अवश्य होता है। लड़का अथवा लड़की, दोनों का मुंडन उसके सातवें माह में किया जाता है। अच्छा मुहूर्त और देवी का स्थान देखकर बच्चे के बाल उतारे जाते हैं। उन बालों को नदी अथवा कुएँ में अर्पित किया जाता है। इस प्रकार के सभी कार्यक्रम, ब्राह्मणों की सलाह पर होते थे। यदि कोई व्यक्ति बार-बार बीमार पड़ रहा है, किसी को बुरे सपने आ रहे हैं, कोई बच्चा लगातार रोए जा रहा है, तब आस-पड़ोस की वृद्धाओं से सलाह लेने का रिवाज था। डॉक्टर की सलाह भी ली जाती थी, परंतु साथ ही किसी ब्राह्मण की शरण में जाना लोग पसंद करते थे। फिर पीड़ित व्यक्ति को कई उपाय सुझाए जाते थे। मन्त पूरी करना, मन्त का स्थान तय करना, वीर बनाना आदि सलाह मिलती थी। इन उपायों को न करने से स्थिति बिगड़ जाने का इशारा भी दिया जाता था। इस सारे का असर उलटा भी होता था। पीड़ित व्यक्ति को कोई आराम नहीं मिलता था और खर्च के चलते कर्जा अलग से हो जाता था।

कुरंगी नामक गाँव में मेरा ननिहाल था, जो हमारे गाँव से करीब चार मील दूरी पर था। बचपन में हम नानी के घर हमेशा जाया करते थे। वहाँ का मुख्य आकर्षण था 'आखा तीज' का त्योहार। करीब छह दिनों तक प्रतिदिन रामलीला होती थी। इसका आरंभ राम-जन्म से होता था। प्रतिदिन कहानी आगे बढ़ती थी और अंत में सीता मैया का अग्नि-प्रवेश हो जाने पर रामलीला का मंचन समाप्त हो जाता था। चमचमाते कपड़ों में नटों (स्वाँगों) को देखकर बड़ा मजा आता था। बंदूक के धमाके के साथ परदा खुलता था और उसी समय हनुमानजी अथवा रामचंद्रजी का मंच पर प्रवेश होता था। तुरही, ढोलों के बाजे बजने लगते और मंच पर जो भी पात्र होता, वह उस ताल पर नाचने लगता। फिर अन्य स्वाँग भी उस लंबे-चौड़े मंच पर आकर नाचने लगते। रामलीला देखने के लिए हम बच्चे मैदान में खटिया ले जाते थे। रामलीला शुरू हो जाने पर हमारे परिवारजन उसी खटिया पर आ बैठते और रामलीला का आनंद लेते। दिन में इन नटों को असली रूप में देखकर बड़ा मजा आता था। दिन, वर्ष बीतते गए। मामाजी से संपर्क कम होता गया और रामलीला के स्वाँगियों का संपर्क भी टूट

गया। फिर भी उनसे जो नाता मन में, भाव-विश्व में बना था, वह आज भी वैसा ही बना हुआ है।

प्रति वर्ष 'भाईदूज' के दिन मेरे गाँव में अखंड हरिनाम का जाप होता था। सुबह प्रवचन, कीर्तन और रात में श्रीराम का अखंड जाप, पूरे हफ्ते तक चलता था। प्रतिदिन अलग-अलग कीर्तनकार आते थे। आख्यान के माध्यम से संसार (गृहस्थी) तथा परमार्थ की कथाएँ प्रस्तुत करते थे, जो बड़ी उद्धोधक हुआ करती थीं। उन दिनों गाँव का वातावरण भी बड़ा अच्छा होता था। बचपन में मुझे कीर्तन सुनने का बड़ा शौक था। आकर्षण भी था। कई बार कीर्तन शुरू होने से पहले ही मैं उनींदा हो जाता था, परंतु मैं सबसे आगे ही बैठता था। जो लोग नियमित रूप से कीर्तन में हाजिरी लगाते थे, उनकी ओर प्रशंसा से देखा जाता था। खास बात यह भी कि मुझे घर की खिट-खिट से, डाँट-डपट से थोड़ा छुटकारा मिल जाता था। इसीलिए मैं कीर्तन टालता न था। कीर्तन के संस्कारों की वजह से पाप-पुण्य की बात मेरी समझ में आ रही थी। सार्वजनिक तौर पर भी कीर्तन का अच्छा असर दिखाई देता था। शराब पीना, मांस खाना आदि पर थोड़ा सा प्रतिबंध लग जाता था। गाँव में आए कीर्तनकारों के भोजन की व्यवस्था गाँव के अलग-अलग परिवार स्वीकारते थे, जो एक सम्मानजनक कार्य माना जाता था।

एक ऐसा लड़का, जो बचपन में ऊधमी था, बदमाश था और मस्तीखोर भी आगे चलकर उसके जीवन में आया परिवर्तन निश्चित रूप से बड़ा आश्चर्यकारक लगता है। एक पहेली भी लगती है। यदि इसे मात्र चमत्कार माना जाता होगा, तब इसमें रस लेने की जरूरत कदापि नहीं है। परंतु यदि यह प्रवास मनुष्य के अंदर बसी असीम क्षमता का है, उसके उचित विकास का है, माता-पिता के द्वारा दिखाई गई अत्यंत योग्य राह का है—तब उसके प्रति सचेत होने की नितांत आवश्यकता है।

मेरे जीवन में आए परिवर्तन की पार्श्व भूमि, मेरे माता-पिता, मेरे दोस्त, मेरी परिस्थिति, सामाजिक-आर्थिक अवस्था (परिवेश) तथा मेरे जीवन को सही मोड़ पर ले आई घटनाओं पर आधारित है।

मेरे माता-पिता अत्यंत सच्चाई से जीनेवाले महान् लोग थे। मैंने (या किसी और ने भी) उन्हें कभी झूठ बोलते, धोखाधड़ी करते नहीं देखा। उनका आचरण अत्यंत शुद्ध था। उनके वे अच्छे गुण अपने आप मुझमें उतरते गए। परंतु कुछ अशुद्धता मुझमें बाकी थी। यानी परिस्थिति के अनुसार मैं अपने दोस्तों से झूठ बोल लेता था। इस झूठ की अकड़ मुझमें नाममात्र को नहीं थी, बल्कि मेरा मन मुझे अपराधी ही कहता था। तब मैं बार-बार संकल्प लेता था कि अब झूठ का सहारा नहीं लेना है। यह अच्छाई शायद मुझमें मूलतः रही होगी।

मेरे बचपन में मुझ पर आस-पास के मेरे दोस्तों का गहरा प्रभाव पड़ा था। ताडे मेरा मूल गाँव है। प्राथमिक शिक्षा गाँव की पाठशाला में हुई थी, अतः मेरे

दोस्त मजदूर, भील, हरिजन और अनपढ़ परिवारों से थे। मैं उनकी आदतें, उनके आचारों, उनके विचारों का अनुसरण करता था (जो शायद स्वाभाविक बात थी) चोरी, झूठ, जुआ खेलना जैसी बातों का विचार भी मेरे परिवारजनों के मन को छू नहीं पाता था कभी! मुझमें ये सारी खामियाँ उन्हीं दोस्तों की वजह से आई थीं, इसमें कोई शक नहीं। सच तो यह भी है कि यह आचरण मुझसे अनायास ही हो जाता था। एक झूठ को छिपाने के लिए कई झूठ बोलने पड़ते थे मुझे और जैसे इसका चस्का लग गया था मुझे। मजे की बात यह भी थी कि मेरे वे तथाकथित दोस्त बिना किसी रोक-टोक के, बेखटके, सहजता से गलत कामों को किया करते थे, जो शायद उनकी आदत ही बन गई थी। मेरा बाल मन इसे सही समझता रहा। स्कूल का निरुत्साही वातावरण, बीजगणित-रेखागणित की निर्जीव आकृतियाँ, परिवार में स्थायी रूप से मौजूद चिंताग्रस्त वातावरण मुझे कदापि अच्छा नहीं लगता था और इस सबसे छुटकारा मिलता था मुझे मेरे दोस्तों के बीच। बड़ा खुश रहता था मैं उनके साथ।

परंतु मुझमें और मेरे दोस्तों के बीच दो बातों का फर्क अवश्य था। पहला यह कि मैं गलत रास्ते पर चला था अवश्य, परंतु उन बातों को, आदतों को आजीवन ढोते रहने की मानसिकता मेरी हो नहीं पाई, सिर्फ मेरे माता-पिता की वजह से। और दूसरी बात यह कि मैं पढ़ाई ठीक ढंग से कर लेता था। शायद इसी कारण मैं आगे पढ़ता रहा, बढ़ता रहा और शिक्षा के अभाव में करनेवाली (अनिवार्य सी) मजदूरी से मैं बच गया। गलत लोगों की दोस्ती, निरंतर की गई आवारागर्दी के बावजूद भी मेरे मन में कुछ कर दिखाने की हूक अवश्य थी। दुनिया में आगे बढ़कर दिखाने की इच्छा दबी पड़ी थी मन में। बचपन में मेरे मन को यह विचार कभी छू कर भी न गया कि औरों की तरह मैं हलके काम करूँगा या मजदूरी करता रहूँगा।

जब मैं आठवीं कक्षा में आ गया, मेरी समझ भी बढ़ने लगी। पता नहीं कैसे, परंतु मन में विचार घुमड़ने लगा कि मैं एक अच्छा खिलाड़ी बन सकता हूँ। इसके लिए क्या करना होगा, इसका विचार मैं करने लगा। अन्य सभी खेलों के साथ-साथ मुझे बॉक्सिंग, हॉकी आदि में भी बड़ी रुचि थी। एक बोरे में पुराने कपड़े, पत्थर और बजरी (बालू) भरकर मैंने उसे ओसारे में टाँग रखा था, जिसपर मैं बॉक्सिंग का अभ्यास करता था। 'लंबी कूद' के लिए मैंने खेत में एक जगह बना ली थी, जमीन को खोदकर। जब वहाँ आस-पास कोई न होता, मैं लंबी कूद का अभ्यास कर लेता था। खेल की दिशा में जब मेरे सम्मुख कोई मार्ग स्पष्ट न हुआ, तब मैंने तत्कालीन केंद्रीय क्रीड़ा मंत्री सुश्री ममता बनर्जी को भी एक पत्र लिखने का साहस कर लिया था। फिर मुझे कहीं से पता चला कि ग्वालियर और पटियाला में क्रीड़ा क्षेत्र में प्रशिक्षण दिया जाता है। मैंने वहाँ स्थापित अकादमी को भी पत्र लिखकर अपनी खिलाड़ी बनने की, ट्रेनिंग लेने

की इच्छा प्रकट की थी। मेरी ये तमाम कोशिशें, इच्छाएँ मेरे दोस्तों की समझ से बाहर थीं। मेरे दिमाग में कई ऐसे विचार निरंतर घुमड़ते रहते थे उन दिनों।

अब मुझे वाचन में बड़ी रुचि पैदा हो गई थी। अच्छी पुस्तकें पढ़ने से मेरे विचारों का दायरा बढ़ने लगा। शुरु-शुरु मैं मनोरंजन हेतु रामायण, महाभारत की कथाएँ पढ़ने लगा। उम्र के साथ फिर अखबार में खेल-समाचार, सिनेमा के स्तंभ में रुझान बढ़ गया। धीरे-धीरे भव्य, अलौकिक चरित्रों का आकर्षण बढ़ता गया और मुझे टारजन, पृथ्वीराज चौहान, महाराणा प्रताप, शिवाजी महाराज की कथाओं, व्यक्ति-रेखाओं को पढ़ना खूब अच्छा लगने लगा। 'महाभारत' में कर्ण, अभिमन्यु, 'शिवचरित्र' में मुरारबाजी-बाजीप्रभु जैसे व्यक्ति-चरित्रों को मैं बार-बार पढ़ने लगा। इन सब महान् लोगों की जीवनी के साथ-साथ मेरा मन उन चरित्र नायकों के प्रति आदर से भर जाता, जिन्होंने प्रतिकूल परिस्थिति में भी असाधारण ध्येय-सिद्धि कर दिखाई।

अच्छी पुस्तकें पढ़ते रहने से जीवन में कुछ अलौकिक, अद्भुत कर दिखाने की ओर मेरा रुझान बढ़ता गया। वैचारिक एवं भावनात्मक स्तर ऊँचा उठने लगा। इस सारे में सोने पर सुहागे का काम किया मेरे मित्र संग्राम पाटील ने। दसवीं कक्षा में उससे मेरी पहचान हुई और देखते-ही-देखते मैं जीवन की सुदृढ़, सक्षम, सुंदर और बेजोड़ राह पर निकल पड़ा। वाचन की वजह से मुझमें जो क्षमता विकसित हुई, उसका तथा आगे बढ़ने की बात का जो अहसास मुझे हुआ उससे संग्राम बड़ा प्रभावित हुआ। यदि मैं कुछ खास बातों को सूत्रबद्ध सही तरीके से करता हूँ, तो पढ़ाई में मेरी बड़ी अच्छी प्रगति अवश्य होगी—इस विचार को संग्राम बार-बार मेरे मन पर अंकित करने का प्रयत्न करता रहा।

मेरे विचार से हमसे उम्र में अधिक बड़े होनेवाले व्यक्ति की तुलना में, हम अपने समवयस्क व्यक्ति की बातों से अधिक प्रभावित होते हैं। इसका मुख्य कारण शायद यह है कि हम उम्र व्यक्ति से प्रोत्साहन मिलना जरा कठिन काम है। संग्राम के गुणों, आचरण की वजह से उसके प्रति मेरे मन में आदर की भावना थी। उसकी बातों (विचारों) का असर मेरे मन पर गहरा होता था। संग्राम से संपर्क होने के बाद मुझमें परिवर्तन आने लगा। मुझमें समाए अवगुणों का धीरे-धीरे लोप होता गया। पढ़ाई की ओर मेरा ध्यान केंद्रित हो गया। दसवीं की महत्वपूर्ण पढ़ाई, ट्यूशन आदि की वजह से फालतू बातों एवं मित्रों के लिए समय बचता ही न था। अब पढ़ाई में इतना मन लगने लगा कि जीवन की सही राह पर मेरे कदम तेजी से बढ़ने लगे।

दसवीं के बाद की जीवन की लड़ाई अलग तरीके की थी। आर्थिक परेशानी ने मुझे बहुत कुछ सिखाया, साथ ही शैक्षिक दृष्टि से कुछ निर्णय मैंने समय से ले लिये थे। वे निर्णय ही निर्णायक सिद्ध हुए। उस लंबे अथक प्रवास में मैं इतना अधिक महत्वाकांक्षी कैसे बन गया? कैसे मैं बड़े-बड़े सपने देख पाया भला?

जीवन में कुछ अद्भुत कर दिखाने की उम्मीद मेरे मन में बचपन में ही जाग गई थी। मैं एक-एक सीढ़ी पार कर रहा था, प्रत्येक बाधा को मात दे रहा था और इसी वजह से मेरा आत्मविश्वास दिन दूना-रात चौगुना बढ़ रहा था। मेरे अथक प्रयत्न मेरी झोली में सफलता का दान डाल रहे थे। जैसे-जैसे मेरी समझ बढ़ती गई, मेरे विचार परिपक्व होते गए और मैं सामाजिक प्रतिबद्धता से जुड़ गया। लोकसेवा का नशा ही मुझे उस क्षेत्र के सर्वोच्च ध्येय की ओर ले जाता रहा।

सुदृढ़ विचार करने की प्रेरणा मुझे तीन बातों से मिली। सामाजिक जीवन में मुझे जो बरताव मिला, मैंने जो अनुभव प्राप्त किए, तब समाज का ऋण चुकाने की प्रबल इच्छा ही मेरा पहला कारण था। दूसरा कारण यह कि कुछ बातों का हाथ से निकल जाना! पैसों के अभाव में, दोस्तों के साथ कुछ कोर्सेज का न कर पाना, इकतरफा प्रेम और हृदय में पनप रही 'शून्य' की भावना को पूरी तरह से उखाड़ फेंकने के लिए अपने आपको सिद्ध करने हेतु कुछ अलौकिक, अद्भुत कर दिखाने की तीव्र भावना का जाग्रत होना। तीसरा और अंतिम कारण यह कि बचपन से मन में जागी अनोखी चेतना, जो मुझे कुछ अनोखा कर दिखाने को बार-बार प्रेरित करती रही।

स्कूल की शिक्षा पूरी हो गई। कृत्रिम प्रभाव का कवच धीरे-धीरे गिरता गया और तब सही मायनों में मेरा मानसिक विकास आरंभ हो गया। गांधीजी, महात्मा फुले, विवेकानंद जैसे महानायकों के जीवन चरित्र ने मेरी आँखों पर बँधी पट्टी को खींच निकाला। मुझे पग-पग पर सामाजिक अव्यवस्था के दर्शन होने लगे। बचपन में पूरी तरह से नासमझ रहा बालक अचानक वैचारिक स्तर पर प्रौढ़ हो गया।

इस वैचारिक मंथन का गहरा असर उभरकर सामने आने लगा। आर्थिक गुलामी से छुटकारा पाने के प्रयत्नों में सामाजिक प्रतिबद्धता का आयाम भी जुड़ गया। आगे यही विचार मजबूती के साथ-साथ महत्वपूर्ण भी बन गया। इस प्रतिबद्धता के आगे बाकी सारी बातें गौण हो गईं।

संक्षेप में कहूँ तो जीवन में कुछ अद्भुत कर दिखाने के लिए निकला 'मैं', वाचन से प्राप्त संस्कारों ने तथा गांधीजी, महात्मा फुले और स्वामी विवेकानंदजी के विचारों ने मुझे सही दिशा दिखलाई। माता-पिता की ओर से संक्रमित हुए तथा परिस्थिति के अनुसार प्राप्त जीवन-मूल्यों ने मेरे ध्येय को प्राप्त करने में अनमोल मदद की है।

मेरी विकट पारिवारिक परिस्थिति मेरे मार्ग का रोड़ा नहीं बनी, वरन् मिली असफलता को भी झेलने की शक्ति उसने मुझे दी। मुझे मेरी उम्र की तुलना में अधिक विचारवान बना दिया। मेरी परिपक्वता को सुदृढ़ बनाने की क्षमता प्रदान की। मेरी कड़ी मेहनत का, सही हुई तकलीफों का फल समय से प्राप्त हो गया, जो मेरी अपेक्षाओं में वृद्धि करते हुए, नए आकाश को छूने की प्रेरणा बन गया।



यदि तुम फेल हो गए तो...

ताई-अन्ना पढ़े-लिखे नहीं थे परंतु शिक्षा का महत्व वे खूब जानते थे। वैसे उन्हें अक्षर ज्ञान अवश्य था। हम भाई-बहनों को अपनी क्षमतानुसार पढ़ाने का प्रयास उन्होंने अवश्य किया था। हमारे गाँव में पाँचवीं कक्षा तक का स्कूल था। पास के गाँव 'निपाणे' में हाई स्कूल था परंतु मेरा और अक्का (दीदी) का दाखिला उन्होंने एरंडोल के हाई स्कूल में करवाया। बस के पास बनवाए थे हमने और हम बस से एरंडोल जाया करते थे। ऊधम, मस्ती, आवारागर्दी करने की आदत के बावजूद अच्छे नंबरों से मेरा पास होना, मेरे परिवारजनों को दिलासा देता था और वे मेरा थोड़ा सा कौतुक भी कर लेते थे।

भले ही हम दोनों बस से स्कूल जाया करते थे, परंतु बस का किराया भी मेरे माता-पिता को, आर्थिक तौर पर, पूरा करना कठिन लगता था। इसीलिए हर इतवार अक्का मजदूरी करती थी और मैं प्रतिदिन एरंडोल से डबलरोटी लाता था और सुबह-सुबह गाँव में बेचता था। दो दर्जन डबलरोटी बेचने पर मुझे तीन रुपए मिलते थे। स्कूल जाने से पहले कई बार हम दोनों सब्जी की टोकरी लेकर गाँव में एक चक्कर भी लगा लिया करते थे। हमारी छोटी सी कमाई का वह भी एक साधन था। इतनी मेहनत के बावजूद अक्का को नवीं कक्षा में ही स्कूल छोड़ना पड़ा। इसके दो कारण थे—पहला कारण था परिवार का बढ़ता खर्च और दूसरा था दो छोटी बहनों को संभालने की जिम्मेदारी। अक्का के घर रुक जाने से कमाई तुरंत शुरू हो गई। जब स्कूल से नाम निकलवाने की बात चली, तब मास्टरजी इसके बिल्कुल खिलाफ थे, क्योंकि वह बुद्धिमान छात्रा थी। परंतु ताई-अन्ना के पास कोई और चारा था ही नहीं!

अक्का का स्कूल असमय छूट जाना मेरे कोमल मन पर आघात कर गया। मेरे गाँव से एरंडोल स्कूल में जितनी भी लड़कियाँ जाती थीं, उन सब में मेरी अक्का पढ़ाई में, आचरण एवं व्यवहार में सर्वाधिक सरस थी। मुझ पर उसकी धाक भी थी। सारी जिम्मेदारियों को संभालते हुए वह पढ़ाई भी कर लेती थी। वह मेरे लिए एक प्रेरणा भी थी। उसके अचानक स्कूल छोड़ देने पर मैं अपने आपको असुरक्षित महसूस करने लगा। जैसे मोटे काष्ठ (कुंदा) के सहारे पानी में तैरना आसान लगता है, परंतु यदि अचानक उसका सहारा छूट जाने से जिस तरह की असुरक्षित होने की भावना उभर आती है, ठीक वैसा ही मैं अक्का के प्रति महसूस करने लगा था।

उन दिनों गाँव-खेड़ों से आए विद्यार्थियों को 'इ' टुकड़ी में दाखिला दिया जाता था। पाँचवीं कक्षा में, मैं भी 'इ' टुकड़ी में भरती किया गया था। मेरी कक्षा में सभी छात्र 'अहिराणी' भाषा बोलते थे। हम सभी छात्र गंदा बदन, पैबंद लगे कपड़े पहननेवाले, नंगे पाँव रहनेवाले छात्र थे। स्कूल का माहौल बिल्कुल

अलग था। स्कूल का अपना ग्रंथालय था। प्रयोगशाला भी थी। शहर में रहनेवाले छात्रों के सफेद झक गणवेश, उनके सुंदर बस्ते, उनका साफ-सुथरापन अलग से झलक जाता था। इन सबमें मेरी अपनी छवि वाकई सर्वथा भिन्न ही थी। पैबंद लगी चट्टी, नाइलॉन का झोला ही मेरा बस्ता था। कपड़े में लिपटी मेरी चटनी-रोटी (डिब्बा) आदि...आदि न्यूनमन्यताएँ तले मैं दबा-दबा सा रह गया।

स्कूल में पहले दिन की प्रार्थना को भूलना मेरे लिए असंभव ही है! बड़ी संख्या में कतारों में खड़े छात्र एक ही सुर में प्रार्थना गा रहे थे। शिक्षक हमें सावधान-विश्राम के आदेश दे रहे थे। दाएँ-बाएँ में हमारी फजीहत हो रही थी। मैं औरों की ओर देखकर अनुसरण की कोशिश करने लगा। मन में एक प्रकार का डर समा गया था। धीरे-धीरे मैं स्कूल के वातावरण का अभ्यस्त होता गया और फिर धीरे-धीरे स्कूल मेरे रंग-ढंग से परिचित होने लगा।

मेरे गाँव से बहुत कम छात्र-छात्राएँ एरंडोल के हाई स्कूल में दाखिल होते हैं। वे ही छात्र वहाँ आते हैं, जिनके पास पैसा है और जिन्हें पढ़ाई की लगन भी है। बाकी सभी लड़के, लड़कियाँ पाँच किलोमीटर पर बसे निपाणे के स्कूल में पैदल जाते-आते हैं। एरंडोल के छात्र सुबह नौ बजे की बस से निकलते और शाम सात बजे की बस से गाँव लौटते।

स्कूल का समय था दोपहर के बारह बजे से शाम पाँच बजे तक। तब हमारे पास खाली समय बहुत होता था। यह समय हम मटरगश्ती में बिताया करते। एरंडोल में इधर-उधर डोलना, टोली बनाकर गप-शप करते रहना, क्रिकेट अथवा गुल्ली-डंडा खेलना, कंचे खेलना हमारा परम कर्तव्य बन गया था उन दिनों। शाम साढ़े छह बजे बस अड्डे पर बस के लगते ही वहाँ खड़े सभी बच्चे मधुमक्खियों की तरह बस में घुसने की कोशिश में अपनी सीट पकड़ने में जुट जाते। पल भर में बस पूरी तरह से भर जाती थी। सीट हासिल करने में आपसी झगड़े रोज-रोज होते थे। एक गाँव के विद्यार्थियों के गुट के साथ दूसरे गाँव के गुट में जमकर झगड़ा होता था।

बस आने से पहले ही गाँवों के क्रमानुसार लड़कों के झुंड अपनी सुनिश्चित जगह पर बैठकर बस की प्रतीक्षा करते। कुछ दिनों के निरीक्षण से कोई भी बता सकता था कि कौन सा गुट किस गाँव का है, इतनी उनकी आपसी एकजुटता थी। बस के इंतजार में वे कई विषयों पर गप-शप करते और खिल-खिलाकर हँसते भी रहते। स्कूल में गरीब गाय-सा प्रतीत होनेवाला छात्र भी इस टोली में दिल खोल कर हँसता दिखाई देता था। इन गुटों के प्रमुख विद्यार्थियों को बड़ा मान मिलता था, क्योंकि वे 'कई' वर्षों से स्कूल आने-जाने का अनुभव ले चुके थे। नए 'सदस्य' जरा सा दबे-दबे से रहते हैं शुरु में, फिर वे भी अभ्यस्त हो जाते हैं उस माहौल के। जितना अधिक अनुभव, उतना अधिक मान!

बड़ी कक्षा के विद्यार्थी, छोटी कक्षा के विद्यार्थियों को बड़ा परेशान करते हैं। बड़े लड़कों के साथ छोटों को कुश्ती खेलनी पड़ती थी। इसका आनंद बड़ी कक्षा के लड़के खूब लेते थे। आपसी झगड़े करवाना और हँसते हुए उसका आनंद लेना, उनका हमेशा का खेल था। छोटे लड़कों को परेशान करने के और भी कई घृणास्पद तरीके थे। स्कूल के बाहर अपनी 'दादागिरी' दिखानेवाले छात्र स्कूल में भीगी बिल्ली की तरह दुबके-दुबके रहते थे। कक्षा की अंतिम बेंच पर बैठते थे। न्यूनता की भावना से घिरे, आत्मविश्वास खोए ऐसे विद्यार्थियों के सम्मुख उनका भविष्य एक समस्या बनकर प्रकट होता था।

मेरे सारे दोस्त भी शैतान ही थे। हमारा ध्यान पढ़ाई के बजाय अन्य बातों की ओर अधिक होता था। ताई के कड़े अनुशासन की वजह से मेरे पास पैसे कभी नहीं होते थे। परंतु मेरे दोस्तों की बात ऐसी न थी। वे पढ़ना-लिखना जानते थे, अतः उन्हें घर से कुछ माल बाजार में बेचने की जिम्मेदारी सौंपी जाती थी। वे उसमें से कुछ पैसे अलग रख लेते। स्कूल के समय में सिनेमा देखने, वीडियो देखने भाग जाते। होटल में खाते-पीते। कभी-कभी मुझे भी साथ ले जाते। भोजन की छुट्टी का समय, सिनेमा शुरू होने का समय होता था। छुट्टी की घंटी बजते ही हम अपने बस्ते लेकर गलियों में से होते हुए तेजी से भाग जाते थे। फिर हम में से एक थिएटर के बाहर निगरानी करता था कि हमारे गाँव का पहचानवाला कोई वहाँ आया है क्या! यदि कोई है, तब हम उसके अंदर जाने के बाद थिएटर में घुस जाते थे। सिनेमा समाप्त होने के कुछ मिनट पहले हम दरवाजे के पास आ जाते थे और जैसे ही दरवाजा खुलता, हम जी-जान से बाहर दौड़ जाते। बस अड्डे पर बैठे लड़कों में चुपचाप शामिल भी हो जाते थे हम। किसी को कोई खबर न लग पाती थी। कई लड़के अपने अनपढ़ माता-पिता से कॉपी-पुस्तक खरीदने का बहाना बनाकर पैसे लेते और एरंडोल में मौज-मस्ती करते।

स्कूल में मेरी छवि, एक होशियार परंतु पढ़ाई की ओर ध्यान न देनेवाले लड़के की बन गई थी। मेरे बस्ते में हमेशा एक-दो पुस्तकें, दो कॉपियाँ, गुल्ली-गुंडा और एक गेंद, बस यही सामान होता था। टाइमटेबल के अनुसार विषय कुछ भी हो, मेरे बस्ते में कोई बदलाव न होता था। सुबह जल्दी पहुँच जाने पर स्कूल में गिल्ली-डंडा खेलना और शाम को क्रिकेट, मेरी आदत बन गई थी। स्कूल की तीसरी मंजिल पर टूटी हुई बेंचें पड़ी रहती थीं, उसी के पटिए निकालकर हमारा क्रिकेट चलता था। गृहपाठ नामक 'पढ़ाई' से मेरा कुछ लेना-देना न रहता। गलती से कभी मास्टरजी ने पूछ लिया तो अपनी अथवा ताई की अथवा किसी की बीमारी का बहाना बनाना सीख गया था मैं। यदि मास्टरजी पिटाई कर देते तो उसे सहने की क्षमता मुझमें थी। प्रयोग-पुस्तिका, कार्यानुभव, निबंध आदि बहियों की खानापूर्ति सत्र के अंतिम सप्ताह में मैं जैसे-तैसे पूरी कर लेता था। सत्र के अंत में मौखिक परीक्षा होती थी, जिसमें तमाम बहियों के नंबर भी जुड़ते

थे। परीक्षा के दिन किसी और की बही के पन्ने फाड़कर उसपर मास्टरजी के हस्ताक्षर करवा लेने का गोरखधंधा भी मैंने कई बार किया है।

आज भी स्कूल के कुछ किस्सों की याद आने पर मुझे खूब हँसी आती है। स्कूल में सभी छात्रों की प्रगति पुस्तक हुआ करती थी। तिमाही, छमाही और वार्षिक परीक्षा में उसे पिता के हस्ताक्षर हेतु घर पर भेज जाता था। जिन दोस्तों के माता-पिता अनपढ़ थे, उन तक प्रगति पुस्तक नहीं पहुँचती थी। परंतु मेरे घर का अनुशासन कुछ कड़ा था। आपातकालीन स्थिति के लिए मैंने अन्ना के हस्ताक्षर की नकल सीख ली थी। आड़े समय (नंबर कम मिलने पर) वह मेरे खूब काम आई। ऐसे समय में मैं उसे समय से पहले ही स्कूल में जमा करवा देता था। अन्ना के ध्यान में यह चालाकी नहीं आ पाती थी।

मेरी शैतानी एवं आचरण की वजह से किसी-न-किसी तरह मुझे 'सर' के सामने सदैव पेश होना पड़ता था। बार-बार का सामना होने के कारण उन्हें मेरा नाम और चेहरा खूब याद रहने लगा। शैतान छात्रों की एक ब्लैक लिस्ट उन्होंने बनाई थी, जिसमें मेरा नाम काफी ऊँचाई पर विराजमान था। जब भी कभी मेरी कक्षा का मॉनिटर मुझे उनके पास ले जाता, उनके चेहरे पर दो प्रकार के भाव होते। या तो वे हँसकर मुझे उपदेश देते, 'अभी समय है कुछ करो' ऐसा मुझे समझाते और वापस कक्षा में भेज देते। यदि किसी कारण से वे पहले से ही नाराज रहे हों तो वे मुझे दो तमाचे मारते और गालियाँ देकर बाहर निकाल देते। मुझ पर इन दोनों बातों का कोई असर न होता था।

एक दिन की बात है, हमारी टीम स्कूल की 'बड़ी छुट्टी' में मुख्य इमारत के सामने क्रिकेट खेल रही थी। बल्ले के नाम पर स्कूल की पुरानी टूटी बेंच का पटिया था मेरे हाथ में। छुट्टी समाप्त होने को आई थी और मास्टरजी, अन्य लड़के स्कूल की ओर आ रहे थे। मैं बैटिंग कर रहा था। उसी समय मैंने एक झन्नाटेदार शॉट लगाया। एक ही पल में 'धप्प' की बड़ी आवाज आई और अचानक कोई मैदान में नीचे बैठकर तिलमिलाने लगा था। देखते-ही-देखते मेरे सारे दोस्त गायब हो गए थे और मैं हक्का-बक्का वहीं खड़ा था, हाथ में बैट लिये। मेरी बॉल हेडमास्टरजी (सर) के कूल्हे पर आघात कर गई थी। वे दर्द से परेशान वहीं जमीन पर बैठ गए थे। मुझे फिर सर के सामने पेश किया गया। मैं थोड़ा सा डर गया था, परंतु मन-ही-मन सजा भुगतने को तैयार भी था, क्योंकि अब तक इस सबकी आदत हो गई थी। इस मामले से निबटने के लिए मुझे कुछ अधिक सहना पड़ा था।

पढ़ाई करने में मुझे बहुत अधिक रुचि न थी, परंतु इतिहास, भूगोल तथा मराठी का मेरा ज्ञान अच्छा था। बचपन से वीरों की कथाओं का, बुद्ध की जीवनी का और इतिहास का मुझे बड़ा आकर्षण था। स्कूल के ग्रंथालय से हमें हर हफ्ते एक पुस्तक मिलने का प्रावधान था। मैं ग्रंथालय को घूस देकर अधिक पुस्तकें लाने में सफल हो जाता था। कभी-कभी तो एक ही हफ्ते में मैं आठ-दस

पुस्तकें भी पढ़ लेता था। इसी के फलस्वरूप मैं रामायण-महाभारत, शिवाजी, महाराणा प्रताप, पेशवा आदि पर उपलब्ध कई लेखकों की पुस्तकें पहले ही पढ़ चुका था, इसीलिए कक्षा में पढ़ाया जानेवाला इतिहास मुझे बहुत ही सरल लगता था। मास्टरजी के हर सवाल का जवाब मेरे पास अवश्य होता था। मेरे जवाब को सुनकर सभी आश्चर्य में पड़ जाते थे।

बाकी विषयों की परीक्षा में मुझे 'नकल' का सहारा लेना पड़ता। जैसे परीक्षा शुरू होने से पहले दीवार पर आकृतियाँ बनाए रखना, छोटे से कागज में महत्वपूर्ण मुद्दे दर्ज कर उसका सहारा लेना आदि तरकीबों में मैं माहिर हो गया था। मेरे साथ बैठनेवाले अन्य छात्रों के पास यह गुर भी न था। अतः वे फेल हो जाते थे। मुझे मेरे प्रिय इतिहास ने और 'नकल' ने स्कूल की परीक्षाओं के संकट से उबार लिया और मुझे अच्छे नंबर भी दिलवाए।

'नकल' का एक किस्सा हमेशा मुझे स्मरण रहता है। छमाही परीक्षा चल रही थी। विज्ञान का परचा था। उस दिन हमारी कक्षा में पर्यवेक्षक के तौर पर वंजारी मास्टरजी उपस्थित थे। सर की खासियत यह थी कि वे हमेशा उनींदे लगते थे। उनके बात करने का तरीका भी खास था। उनके सीधे-सादे, सरल स्वभाव का लाभ लेते हुए हम उनकी नकल भी उतारा करते थे। जैसे ही हमने वंजारी सर को कक्षा की ओर आते देख लिया, हम सभी अत्यधिक खुशी से झूम उठे। परीक्षा शुरू हो गई। कक्षा में बने चबूतरे पर रखी कुर्सी पर वे विराजमान हो गए। मैं ऐसी जगह पर बैठा था जहाँ सर की नजर आसानी से न पहुँच रही थी। पेपर शुरू हो गया। सर भी आराम से अखबार पढ़ने लगे। हमारे लिए तो यह एक वरदान ही मिल गया।

मैंने गाइड से नकल आरंभ कर दी। सभी का ध्यान मेरी ओर लग गया था। मेरे पेपर की नकल मेरे पीछे बैठे लड़के ने आरंभ कर दी। धीरे-धीरे यह 'छूत की बीमारी' सारी कक्षा में फैल गई। सारा मामला बिल्कुल शांतिपूर्ण वातावरण में आराम से चल रहा था। इसी दौरान हेडमास्टरजी भी हमारी कक्षा का अवलोकन करने आए थे, परंतु कक्षा की शांति देखकर प्रसन्नता से लौट गए।

मेरी अगली कतार में मेरी कक्षा का सबसे बुद्धिमान छात्र संग्राम बैठा था। हमें नकल करते देख प्रति पल उसकी बेचैनी बढ़ रही थी। उसे अपना अव्वल नंबर खोना न था। उससे रहा न गया और उसने वंजारी मास्टरजी को नींद से जगाकर सारा माजरा बता दिया। मास्टरजी ने मुझे अपने पास बुलाया। वे गुस्से से उबल रहे थे। उन्होंने जोर से मेरे दोनों कानों को कसकर मरोड़ा। उनका यह रूप मैं पहली बार देख रहा था। मैं डर गया था। संग्राम के चेहरे पर खुशी छलक रही थी। 'कैसा सबक सिखाया' का भाव उसके चेहरे पर था।

मास्टरजी ने तैश में आकर मुझे चार झापड़ रसीद दिए। जितनी तेजी से वे नाराज हुए थे, उतनी ही जल्दी उनका गुस्सा ठंडा पड़ता गया। उनकी नरमाई को मैंने भाँप लिया और मैं तुरंत गिड़गिड़ाने लगा। शुरू में उन्होंने मुझे हेडमास्टरजी

के पास भेजने की धमकी दी और मुझे परचा छोड़कर निकल जाने को कहा, पर मैं वहीं रुका रहा, तब उन्होंने कक्षा में सबके सामने मुझे पचास उठक-बैठक लगाने की और बाद में मैदान के पाँच चक्कर लगाने की सजा फरमा दी। मैंने जल्दी-जल्दी पचास उठक-बैठक लगाई और मैदान में चक्कर लगाने लगा। परीक्षा के वातावरण में पूरा स्कूल शांत था और मैं अकेला ही मैदान के चक्कर लगा रहा था। राह से आने-जानेवाले लोग मेरी ओर बड़े आश्चर्य से देख रहे थे। कक्षा में निगरानी कर रहे पर्यवेक्षक भी बड़ी विचित्र नजरों से मुझे देख रहे थे। आखिरी चक्कर लगाने के बाद मुझे बड़ी राहत मिली एक संकट से और मैं मुसकरा दिया।

मेरी इस 'बहादुरी' का किस्सा लंबे समय के बाद मेरे परिवारजनों को पता चला। सिर्फ अपना ही 'सपूत' ऐसे कारनामे कर सकता है, इसका उन्हें यकीन हो गया। अनगिनत गालियाँ खाने के बाद इस घटना पर परदा गिर गया।

मैं खूब मन लगाकर पढ़ूँ, इस बात के लिए ताई-अन्ना ने हर तरह से कोशिश की, परंतु मैं हमेशा अनसुनी करता रहा। मुझे पढ़ाई से अधिक रुचि थी खेल-कूद में। परेशान होकर अंत में उन्होंने मुझे धमकी दी, 'यदि तुम फेल हो गए तो तुम्हें शंकर दादा के यहाँ काम पर लगा दिया जाएगा'! हमारे गाँव में सबसे धनी व्यक्ति थे शंकरदादा, जिनके घर में दो-चार नौकर और पचासों स्त्रियाँ काम करती थीं। परंतु मैं कभी फेल हुआ नहीं और शंकरदादा के घर नौकरी करने की नौबत मेरे लिए आई नहीं। मेरे (अव) गुणों को देखकर वे सिर्फ एक ही आस पर अपनी जीवन नैया आगे ले जा रहे थे कि कभी तो यह लड़का सुधरेगा, खूब पढ़ेगा और अपना जीवन सुखमय बनेगा।

मेरे इस प्रकार के आचार एवं व्यवहार के कई कारण थे। पहली बात तो यह कि मुझे पढ़ाई-लिखाई में रुचि कम थी। अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, विज्ञान आदि विषयों को मैं मूलतः समझ नहीं पा रहा था। मास्टरजी भी विद्यार्थियों के मन में जिज्ञासा एवं रुचि-निर्माण करने की क्षमता न रखते थे। यदि विषय समझ में नहीं आ रहा है, तब मास्टरजी से पूछने की हिम्मत मैं जुटा न पाता था। मन में यही डर बना रहता था कि पूछने पर खिल्ली उड़ाई जाएगी। विषय को समझ लेने की कोशिश करने के बजाय उसकी ओर आना-कानी करना अधिक सरल प्रतीत होता था। एक बात और भी कि जो छात्र ट्यूशन लेते थे, वे पहले से विषय को अच्छी तरह से समझकर कक्षा में आते थे। प्रत्येक सवाल का जवाब आसानी से देकर कक्षा में अपनी धाक भी जमाते थे। इन्हीं समस्याओं से घिरा मैं (जो कभी भी निर्बुद्ध न था) पढ़ाई से दूर भागने लगा। मेरी इन आदतों का मुख्य कारण था मेरे दोस्त। मजदूर परिवार से, भील परिवार से आए इन दोस्तों के आचरण का मुझ पर गहरा प्रभाव था। उनके साथ मस्ती करने में खूब आनंद आता था। खास बात तो यह भी कि उनके माता-पिता उन्हें पढ़ाई

के लिए कभी भी डाँटते-डपटते न थे। जबकि मेरे ताई-अन्ना मुझे सजा देते थे, इसी बात पर मुझे खूब गुस्सा आता था।

ताई-अन्ना को इतना अधिक काम होता था कि मेरी ओर ध्यान देने का समय ही उनके पास नहीं होता था। जब भी उन्हें समय मिलता, वे मुझे पढ़ाई करने की याद दिलाया करते थे। मेरा बाल मन खेल-कूद की ओर अधिक आकर्षित था, इसमें कोई शक नहीं। अच्छी पढ़ाई करके जीवन में आगे बहुत कुछ करना है, यह विचार भी मुझसे कोसों दूर था। मेरी स्कूल की प्रगति ने मुझे ऐसा विश्वास भी कभी दिलवाया नहीं। पुस्तकों में लिखे ज्ञान को समझ लेना है और उसका अभ्यास करना है, यह बात ही मेरी समझ से बाहर थी।

मेरी खेल की रुचि देखकर भी किसी टीम में शामिल होने का मौका मेरे स्कूल ने मुझे कभी नहीं दिया। फुटबॉल आदि जैसे खेलों में 'अ' टुकड़ी के छात्र चुने जाते थे। माता-पिता की क्षमता (ओहदा) भी ऐसे चुनाव का एक निकष होता था। जब भी फुटबॉल के मैच के दौरान बॉल मैदान से बाहर आ जाती थी, हम देहाती, गँवार छात्र उसे लात की ठोकर से तुरंत अंदर भेजने में सफल हो जाते, और ऐसा मौका मिल जाने मात्र से ही हमें जो अतीव आनंद मिलता था, उसका वर्णन तो शब्दों से परे है। इस प्रकार का भेदभाव अन्य उपक्रमों में भी होता था। मास्टरजी के हिसाब से हम देहाती छात्र तो मूर्ख और गँवार ही थे। एक अनुभव मेरे मन को बींध गया। उस समय मैं आठवीं कक्षा का विद्यार्थी था और मुझे एन.सी.सी. से बड़ा लगाव था। मैंने उसमें भरती होने की ठान ली। जाँच के दौरान मेरी ऊँचाई, मेरी दौड़ने की क्षमता बिलकुल सही होने के बावजूद मुझे चुना नहीं गया। जिन्हें चुना गया था, उन छात्रों की फेहरिस्त पहले ही बन चुकी थी। उस दिन मैं अपनी बरबसता पर खूब रो लिया।

स्कूल में कुछ शिक्षक ऐसे भी थे जिन्हें मुझसे स्नेह था और वे कहा भी करते थे कि यदि मैं मन लगाकर पढ़ूँ तो जीवन में बहुत आगे जा सकता हूँ। हमारे बड़गुजर मास्टरजी और श्रीमती लखोटेजी मुझे प्रोत्साहन देते, मेरी प्रशंसा भी करते थे। उस समय उनकी आशाएँ, आकांक्षाएँ मुझे भ्रामक लगती थीं, क्योंकि मुझे अपने आप पर रती भर भी विश्वास न था।

हमारे स्कूल में प्राइवेट ट्यूशन का बड़ा बोलबाला था। इसका असर दो प्रकार से होता था। पहला यह कि ट्यूशन लेनेवाले सभी मास्टरजी स्कूल में मन लगाकर पढ़ाते न थे और जो छात्र उनकी ट्यूशन में जाते थे, उन्हीं की पढ़ाई की ओर उनका ध्यान अधिक होता था। एक बात यह भी कि उनके पास अधिकाधिक विद्यार्थी ट्यूशन के लिए आएँ, इसके लिए वे कई प्रकार की तरकीबें भी अपना लेते थे। गाँव-खेड़ों से आए निर्धन छात्रों के सम्मुख तब बड़ी समस्या खड़ी हो जाती थी।

हमारे एक मास्टरजी ने सत्र के आरंभ में ही छात्रों से ट्यूशन आने का आह्वान करते हुए एक आश्वासन यह भी दिया कि गरीब छात्रों को मैं मुफ्त में पढ़ाऊँगा।

उनके आश्वासन का असर अच्छा रहा। कक्षा के आधे से अधिक छात्र उनके यहाँ पढ़ने जाने लगे। हम तीन गरीब विद्यार्थी उनके घर पढ़ने जाया करते थे। कुछ ही दिनों में उनकी चालबाजी हमारी समझ में आ गई। वे गरीब छात्रों की मदद का ढोंग कर रहे थे। ट्यूशन के दौरान हम तीनों को वे घर के काम की आज्ञा देने लगे। फिर कुछ दिनों के पश्चात् हम तीनों को इसलिए निकाल दिया कि हम किसी 'काम' को ठीक से कर नहीं पा रहे, यही आरोप हम लोगों को बीँध गया। उनका यह व्यवहार हमें कितनी गहरी चोट दे गया, क्या कहें?

हमारे स्कूल के कुछ पुराने मास्टरजी वाकई बहुत अच्छे थे। वे खूब मन लगाकर पढ़ाते थे। विद्यार्थियों के बीच उनकी धाक बनी हुई थी। हमारे हेडमास्टरजी भी कड़े स्वभाव के थे। परंतु दुर्भाग्य से धीरे-धीरे माहौल और परिस्थिति बदलने लगी। जिन अनुभवी लोगों को शिक्षा में रुचि थी और जिन्होंने इसी लगन से स्कूल की स्थापना की थी वे पुराने 'वृक्ष' धीरे-धीरे ढहते गए और व्यवस्थापन ऐसे गीदड़ों के हाथ में आ गया, जिनका एकमात्र उद्देश्य और भगवान् था 'पैसा'! जिस स्कूल में कभी शिक्षक की गुणवत्ता को परखकर उन्हें पढ़ाने का मौका दिया जाता था, वहाँ अब यह पेशा नीलामी पर चलने लगा है। लाखों रुपयों के बदले में पाए पद पर बिराजे शिक्षकों को पढ़ाने में कोई रुचि नहीं रह गई है। वे कई अन्य घपलों में लिप्त हो जाते हैं। शिक्षा के इस पवित्र क्षेत्र में जो घुन लग गया है, वह इसे बरबादी की राह पर ले जा रहा है।

मेरी तरह कितने ही गरीब परिवारों की संतानें गाँव-खेड़ों से शहर आती हैं अध्ययन के लिए। माँ-पिता की आँखों में अपने जाए के पढ़ने लिखने का, उसके उज्ज्वल भविष्य का सपना साफ-साफ झलकता दिखाई देता है, परंतु बच्चों के पास उस 'लगन' का पूर्णतया अभाव ही दिखाई देता है। हर तरह की न्यूनता से घिरे इन बालकों में आत्मविश्वास का अभाव होता है। स्कूल में दाखिला लेने के पश्चात् उनका सामना सबसे पहले होता है गणित तथा अंग्रेजी विषयों से, जो उनके लिए एक घोर समस्या है। मन में समझा डर, आत्मविश्वास का अभाव, असफल विद्यार्थियों की गलत सलाह की वजह से इस समस्या की ओर देखने का उनका दृष्टिकोण ही बदल जाता है। उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि इन विषयों से पार पाना उनके बस के बाहर की बात है। फिर वे समस्या से भिड़ने के बजाय उससे दूर भागना पसंद करने लगते हैं। अपने परिवार में, समाज में और स्कूल में जिस प्रतिकूल वातावरण से वे घिरे रहते हैं, वह उनके मन में हिम्मत, दृढ़ता और संकल्प का निर्माण नहीं कर पाता है। छात्रों को लीक से हटकर कुछ करने की उमंग ही पैदा नहीं हो पाती है। बस, उसी पुरानी लीक पर चलते हुए जैसे-तैसे स्कूल की अंतिम परीक्षा पास कर लेना और फिर, कॉलेज में भरती हो जाना! अध्यापकजी जो पढ़ा दें, उसी को (सिर्फ) कंठस्थ करते हुए पाँच वर्षों की पढ़ाई जैसे-तैसे पूरी कर लेना और डिग्री का टीका माथे पर लगावा लेना। दुःख की बात यह है कि छात्रावस्था के आरंभ काल से लेकर

युवक होते-होते तमाम परीक्षाओं को (जैसे-तैसे) पार करने के दौरान यह प्रश्न कभी भी नहीं सताता है (मन में उठता भी नहीं है) कि हम क्या पढ़ रहे हैं? हमारी क्षमताएँ क्या हैं? और हमें जीवन में क्या हासिल करना है? वही पुरानी लीक जीवन की परिपाटी बन जाती है।

परिवार के एवं गाँव के शिक्षित बेरोजगार लोग तो पढ़ने लिखनेवाले लोगों के लिए वाकई एक समस्या बन जाते हैं। वे कहते रहते हैं, 'पढ़ने से किसी का भला होता है क्या? हमारी ओर देखो—गाँठ में पैसा नहीं है, इसीलिए नौकरी नहीं है—घर में फोकट बैठे हैं!' गाँव खेड़ों में इसी बात का प्रचार एवं प्रसार होता रहता है कि सिफारिश अथवा रिश्त के बगैर नौकरी मिलना असंभव ही है, चाहे जितना पढ़ लो! उनकी पहुँच बड़ी सीमित रहती है। कहीं बाबू बन गए अथवा चपरासी या फिर पुलिस में भरती हो गए। वे किसी जगह पर इंटरव्यू को जाते समय अपने साथ रुपयों की थैली अवश्य ले जाते हैं। यही मार्ग वे परीक्षा के लिए जाते समय भी अपनाते दिखाई देते हैं। बेरोजगार युवक के विवाह के समय दहेज में आई रकम उसकी नौकरी की रिश्त के लिए अलग से निकालकर रखने का रिवाज सा बन गया है। जिन मध्यवर्गीय परिवारों में एक से अधिक लड़के हैं, वहाँ भाइयों के बीच आपसी कलह न उपजे, इसके लिए किसी एक को घर से बाहर भेजने के लिए पैसों का इंतजाम अवश्य कर लिया जाता है। इस समस्या से निपटने के लिए समय पढ़ने पर वे खेती भी बेचने के लिए तैयार रहते हैं।

इस प्रकार के वातावरण में यदि कोई युवक परिस्थिति को मात देने हेतु यदि हिम्मत दिखाता है, तब उसे तीन स्तरों पर जूझना पड़ता है। पहला स्तर है परिवार की मानसिकता का। परिवारजनों को पूरा विश्वास दिलवाना और दूषित विचारों को उनके मन से बाहर निकाल देने का काम यत्नपूर्वक करना पड़ता है। दूसरा स्तर है सामाजिक मानसिकता का, उसकी गलत विचारपद्धति का। इससे जूझना जरा मुश्किल काम है। जो आगे बढ़ना चाह रहा है, उसका आत्मविश्वास और उसकी उड़ान की आकांक्षा को ही यह सामाजिक मानसिकता कुंठित कर देती है। ऐसी स्थिति में किसी भी हालत में अपने ध्येय से विचलित न होना ही बड़ा महत्वपूर्ण काम है। तीसरा और अंतिम स्तर अपने ध्येय से चिपके रहने का है। इस स्पर्धा में सफलता पाने के लिए पूरी तरह से अपने आपको उसमें झोंक देना है, अन्य प्रतिस्पर्धियों जितनी ही मेहनत करनी है। यानी पहली स्पर्धा है मानसिक स्तर पर, जो वाकई बहुत कठिन प्रतीत होती है, इससे पहले पार पाओ। दूसरी लड़ाई है प्रत्यक्ष आमने-सामने। यहाँ आपका ध्येय तय है और सारे प्रयत्न आपके हाथ में हैं। कोशिश करने पर निश्चित रूप से यह बात आपके बस की है।

तब मैं आठवीं या नवीं कक्षा में था शायद, जब मुझे मेरी बदलती मानसिकता का अहसास पहली बार हुआ था। किशोरावस्था की दहलीज पर मेरे कदम पड़े थे। पहला विचार यह आया कि क्या लड़कियाँ मेरी ओर देखती हैं? मेरे बारे में

आपसी चर्चा करती हैं? इस मामले में मेरा मन आशंकित भी था। चुपके-चुपके लड़कियों पर नजर डालना, यदि किसी लड़की ने कुछ माँगा तो तुरंत उसे देना आदि-आदि बातें सहज रूप से चलती थीं। मेरी कक्षा की एकाध लड़की मुझे अच्छी लग जाती। फिर चुपचाप उसे निहारना, उसके बारे में जानना आदि भी चलता था। कई बार हम दोस्त आपस में लड़कियों के शारीरिक अंगों की चर्चा करते थे। कभी-कभी मेरी जिज्ञासा तीव्र हो उठती थी। मेरे गुरुप के कई लड़के शारीरिक संबंधों, गुप्तांगों की चर्चा भी करते। मेरे लिए यह सब अनोखा होता। अजूबा भी होता। फिर मैं भी अपनी शेखी बघारने के लिए मनगढ़ंत किस्से सुनाने लगता। गाँव में चल रहे इस प्रकार के किस्सों की चर्चा हमें बड़ी अच्छी लगती थी। कई बार इस प्रकार के किस्से झूठ पर आधारित भी होते थे।

जब मैं दसवीं कक्षा में आ गया, मुझे एक लड़की अच्छी लगने लगी। हम गणित की ट्यूशन के लिए एक ही मास्टरजी के घर जाया करते थे। वह लड़की थी गोरी-चिट्ठी! साफ-सुथरे कपड़े पहनती थी और मेरे कपड़े जैसे-तैसे धुले होते थे। अपना बस्ता और खाने का डिब्बा सँभालते हुए मैं चोरी-चोरी उसे निहार लेता था। वह अपने भाई के साथ आया करती थी। गेट से क्लास तक आने तक मैं उसे कई बार देख लिया करता था। परंतु दसवीं के पूरे साल में मैं उससे एक बार भी बात करने की हिम्मत जुटा न पाया था। वार्षिक परीक्षा में वह कभी-कभार दिखाई दे जाती और मेरा मन आतुर हो उठता। परीक्षा के बाद हम दूर चले जाएँगे, यह विचार मन को कुछ बेचैन कर जाता।

मैं दसवीं की परीक्षा अच्छे नंबरों से पास हो गया। एरंडोल में मैंने जब ग्यारहवीं में एडमिशन ले लिया तब देखा कि 'वह' भी वहीं आ गई है अपनी अगली पढ़ाई के लिए। अब मेरी वाकई कड़ी परीक्षा का समय आ गया। मेरा भावुक मन अब सपने भी बुनने लगा। मेरे निकट के दोस्त इस माजरे को भाँप गए। मैं मन-ही-मन कई योजनाओं का आयोजन करता, कई-कई बातें सोचता, परंतु उससे सामना हो जाने पर मेरे मुँह से एक शब्द भी न फूटता! उसे अपनी ओर आकर्षित करने के कई तरीके अपनाए, परंतु सबकुछ व्यर्थ रहा। आगे उसके बारे में कई अफवाहें सुनने में आईं। कई लड़के इस बात का प्रचार जान-बूझकर करने लगे कि वह किसी की ओर आकर्षित हो गई है। यानी इस पूरे मामले में मैंने हार मान ली। मैं धराशायी हो गया। पढ़ाई की ओर से मेरा ध्यान पूरी तरह से हट गया था। मेरे मन-मस्तिष्क में मात्र उसी का विचार निरंतर मँडराता रहा। बारहवीं की पढ़ाई के लिए जब मैं धूलिया चला गया, तब ही इस कहानी का अंत हो पाया। आगे चलकर कभी-कभार उसके संदर्भ में कुछ बात होती, तो मेरा मन जरा सा बेचैन अवश्य हो जाता था।

महाविद्यालयीय जीवन में जब कुछ दोस्त लड़के-लड़कियों के आपसी मेल-जोल के चर्चे करते थे, तब मुझे बड़ी ईर्ष्या होती थी। तब मन में कई विचार उमड़-धुमड़ जाते कि काश मैं भी गोरा-चिट्ठा होता! मेरे कपड़े शानदार होते, तब

लड़कियाँ मुझसे भी बातें करतीं! मेरे जीवन का वह काल, सिर्फ चर्चा करना और स्वप्न रंजन में खो जाने तक ही सीमित रहा। कोई और विकल्प था कहाँ?

परंतु एक बात ध्यान में यह आई कि यह सबकुछ करनेवाले छात्र एवं छात्राएँ मेधावी नहीं थे। कई मामले में तो 'प्रेम' नामक शब्द की परिधि से भी बाहर थे। चोरी छिपे एक-दूसरे से मिलना। शारीरिक भूख को मिटाना और अपनी-अपनी गरज के अनुसार अलग भी हो जाना। स्कूल तथा महाविद्यालय में जिन लड़कों के पास पैसा होता था, दो पहिया वाहन होता था, लड़कियाँ सिर्फ उन्हीं से दोस्ती करती थीं। मैं तो इनमें से किसी भी वर्ग के लायक था नहीं, अतः मेरे हिस्से 'पोस्टमैन' की, 'हितचिंतक' की या कभी-कभी तमाशाई बने रहने की भूमिका आती थी। मैंने एक मजे की बात यह भी देखी है कि कुछ लड़के पहले रोमियो बने, फिर उन्हीं 'जूलियट' के विवाह में बाराती बने और अंत में जूलियट के बच्चों के मामा भी बने। प्रत्येक किरदार उन्होंने बखूबी निभाया!

इस प्रसंग में सिनेमा की भूमिका प्रमुख रही। एरंडोल में दो सिनेमाघर थे। एकाध 'मसालेदार' फिल्म लग जाने पर हमारी उत्सुकता बढ़ जाती थी। उत्तेजित पोस्टरों को देखकर हम अपने आपको सिनेमा देखने से रोक न पाते थे। स्कूल से भागकर वहाँ हाजिरी लगाते थे। पूरे समय मन पर डर का दबाव बना रहता कि किसी पहचानवाले ने देख लिया तो बदनामी होगी! सिनेमा देखने के बाद उसपर आपस में खूब चर्चा भी होती थी। समय के साथ यह आदत भी छूट गई।



ताजीSS डबलरोटी

अब मुझे ठीक से याद नहीं कि मैंने डबलरोटी बेचना क्यों शुरू की! शायद तब मैं छठी कक्षा में था, यानी मेरी उम्र ग्यारह वर्ष की रही होगी। आरंभ में मैं एरंडोल से एक दर्जन डबलरोटियाँ लाता था और सुबह-सुबह सारी गलियों में 'ताजीSS डबलरोटी' ऊँची आवाज में कहता हुआ पूरे गाँव का चक्कर लगाता था। उन दिनों एरंडोल में डबलरोटी बनाने की मात्र दो ही बेकरियाँ थीं। उनमें से एक बेकरी से मैं प्रतिदिन सुबह ही माल खरीदता था। सुबह इसलिए, क्योंकि शाम को या तो बेकरी में सारी डबलरोटियाँ खत्म हो जातीं या फिर छोटी-छोटी डबलरोटियाँ खरीदनी पड़ती। सुबह खरीदा हुआ माल मुझे सारा दिन सहेजकर रखना एक बड़ा ही कठिन काम लगता था। शुरू-शुरू में यह बात गुप्त रही, परंतु कुछ ही दिनों में सभी छात्रों को इसकी भनक लग गई। मुझे मेरी कक्षा के लड़के 'डबलरोटीवाला राजू' कहकर चिढ़ाने लगे। मेरे लिए एक परेशानी और बढ़ गई। खाने की छुट्टी में अथवा पी.टी. के पीरियड में मेरे थैले से दो-चार डबलरोटियाँ गायब भी होने लगीं। एकाध डबलरोटी चली जाने की चिंता मुझे नहीं होती थी, परंतु कहीं अधिक डबलरोटियाँ चुरा ली जाती तब मेरी परेशानी खूब बढ़ जाती थी। घर में दीदी (अक्का) को हिसाब देना पड़ता था। उसके आगे मेरा कोई बहाना चलता न था। मेरी गैर-जिम्मेदारी का ठप्पा मुझ पर तुरंत लग जाता था, जो बड़ा महंगा साबित होता था।

आगे चलकर दो थैलियाँ, यानी एक बस्ते की थैली तो दूसरी डबलरोटी की, एक साथ रखने में मुझे शर्म आने लगी। मुझे ऐसा आभास भी होने लगा कि मेरी सहपाठिनियाँ मेरी ओर उँगली उठाकर मेरा मजाक उड़ा रही हैं। यह भावना मुझे बेचैन कर जाती। तब मैंने निर्णय कर लिया कि डबलरोटी की थैली को दिन भर बेकरी में ही रखना है और स्कूल की छुट्टी हो जाने पर ही उसे लेकर घर लौटना है। इसमें भी परेशानी होने लगी। कई बार बेकरी मेरे वहाँ पहुँचने से पहले ही बंद हो जाती थी।

शाम को घर लौटते समय का एक और संकट मेरे सामने उभर आता था। मैं दोनों थैलियाँ पीठ पर लादकर लौटता था। मेरी छुट्टी शाम पाँच बजे होती थी और लौटने के लिए मेरी बस शाम साढ़े छह बजे की रहती। मेरे साथियों के साथ मैं इसी दौरान खेलने में मगन हो जाता। मेरी थैली से तब चुपचाप डबलरोटियाँ कम हो जाती थीं। कई बार यह बात घर पहुँचने पर ध्यान में आती। फिर इसकी सजा भी मिलती। हमसे उम्र में बड़े और हट्टे-कट्टे लड़कों की यह शैतानी होती थी।

बस के इंतजार में अलग-अलग गाँवों के लड़के, अपने-अपने गुट बनाकर प्रतिदिन एक नियत जगह पर बैठकर बस का इंतजार करते थे। अपने गुट पर

ध्यान रखना जरूरी होता था, परंतु खेलते समय ध्यान रखना मुश्किल भी होता था। एक दिन की बात है, हम सभी कंचे खेलने में इतने मगन थे कि साढ़े छह की बस कब आई और कब निकल गई, पता ही नहीं चला। जब ध्यान गया तो पाया कि मेरे गाँव के सारे छात्र निकल गए हैं। दूसरी बस पकड़कर घर पहुँचने में रात के दस बज गए। मैंने ताई को कहा भी कि पढ़ रहा था और बस कब निकल गई, पता ही नहीं चला! ताई को इस बात पर जरा भी विश्वास न हुआ और उस दिन मेरी अच्छी 'धुलाई' हो गई।

उस समय मैं आठवीं कक्षा में था, जब अक्का का विवाह हो गया। अब तक मेरा डबलरोटी बेचने का व्यवसाय ठीक तरीके से चल रहा था, क्योंकि अक्का ही सारा हिसाब-किताब रखती थी। कितना माल बिका, कितना उधार रहा आदि का हिसाब करने के बाद वह महीने के अंत में बस के नए पास के लिए, पेन अथवा कॉपी आदि के लिए मुझे पर्याप्त रुपए देती थी। डबलरोटी की चोरी की वजह से कई बार इस (गोरख) धंधे में खोत भी आ जाती थी, तब मुझे डॉट, ताने सुनने पड़ते थे। 'भविष्य में तुम कुछ कर न पाओगे! अपनी बीवी को भी सँभाल न पाओगे' आदि बातें सुनने के बाद ऐसी घटनाओं पर परदा गिर जाता था।

मौसम बारिश का हो अथवा सर्दी का, प्रति सुबह छह बजे मुझे डबलरोटी बेचने के लिए घर से बाहर निकलना ही पड़ता था। बिस्कुट के खाली कनस्तर में डबलरोटी रखकर मैं बाहर निकलता और 'ताजीSSS डबलरोटी' चिल्लाता हुआ हर गली में घूम लेता था। सर्दी के दिनों में तो सुबह बाहर निकलना मेरे लिए बड़ा जानलेवा सिद्ध होता था, क्योंकि बचपन में मेरे पास स्वेटर आदि चीजें थीं ही नहीं। फटी कमीज, ठंडा पड़ा कनस्तर, नंगे पाँव चलना किसी सजा से कम न लगता था। ठंडी हवा से होंठ सूख जाते, फट भी जाते और उनसे खून निकलने लगता। जो हाल होंठों का, उससे बदतर हाल था पैरों का। रास्ते में कंकड़ चुभते और फटी बिवाइयों से खून रिसने लगता। यदि घर से निकलने में देर हो जाती तो उसका असर मेरी बिक्री पर अवश्य होता था। सर्दी में, बिस्तर में दुबक जाने का सुख उन दिनों मेरे नसीब में था नहीं!

गरमी के दिनों में कोई तकलीफ न होती थी। सुबह की ठंडी हवा में खूब आनंद आता था। मेरे गाँव में और भी लड़के डबलरोटी बेचने का काम करने लगे थे। तब आपस में जैसे होड़ सी लग जाती। जो सबसे पहले निकल पड़ता था, उसकी बिक्री भी अच्छी होती थी। यदि किसी गली से अपने प्रतिस्पर्धी की गुहार सुनाई दे जाती, तो मैं तुरंत दूसरी गली में अपना माल लेकर मुड़ जाता था। कभी-कभी हम लोगों का आपस में झगड़ा भी हो जाता था। हमारे गाँव में कुछ ऐसे परिवार भी थे, जहाँ रोज-रोज डबलरोटी खरीदी जाती थी। मैं किन्हीं बातों पर बारीकी से ध्यान रखता था। किस घर में मेहमान आए हैं, किस घर में छोटे जिद्दी बच्चे हैं आदि-आदि। ऐसे घरों के सामने मैं कुछ समय के लिए रेंगता भी था, ताकि वे मेरी आवाज सुन सकें। डबलरोटी के छोटे से व्यवसाय ने

मुझमें आत्मविश्वास जगाया। आत्मनिर्भरता की लगन मुझमें जगाई। जीवन में मैं अवश्य कुछ कर सकता हूँ, ऐसा विश्वास इतना प्रबल हो गया कि डबलरोटी के साथ-साथ मैं अन्य छोटी-मोटी वस्तुएँ भी बेचने लगा, जैसे पतंग, राखियाँ आदि।

उन दिनों एक डबलरोटी के दाम होते थे 4 आने यानी 25 पैसे। तब छुट्टे पैसे की समस्या भी कभी-कभी पैदा हो जाती थी। कुछ लोग दस रुपए का नोट अथवा पचास, सौ के नोट भी निकालते। मेरे हमेशा के कुछ ग्राहक उधारी पर माल लेते परंतु पैसे देने में बड़ा परेशान करते। कभी-कभी तो वे उधारी भूल भी जाते! कुछ लोग झूठ भी बोलते। इन सभी बातों की वजह से मेरी परेशानी वाकई बढ़ जाती थी।

कई लोग ऐसे भी मिले, जो मेरी ओर उँगली से इशारा करते हुए अपने बच्चों से कहते, 'देखो उसे! डबलरोटी बेचकर पढ़ रहा है'! जब वे मेरी प्रशंसा करते, तब मेरा मन खुशी से भर जाता था। वैसे अधिकांश लोग मेरा मजाक भी उड़ाया करते थे। डबलरोटी बेचने की वजह से मेरी प्राथमिक जरूरतें पूरी हो जाती थीं। जब तक अक्का का विवाह नहीं हुआ था, वही सारा हिसाब रखती थीं, परंतु उसके बाद मुझे पर कोई नियंत्रण रखने की फुरसत किसी के पास नहीं थीं। ताई-अन्ना तो अपने कामों में ही उलझे रहते थे। उन्हें शायद यह विश्वास हो गया था कि मैं अपनी जिम्मेदारी समझने लगा हूँ। परंतु यह उनकी गलतफहमी ही थी।

हाथ में थोड़ी सी नकद रकम होने के कारण मुझे जुआ खेलने की आदत लग गई। इस गंदी आदत की शुरुआत उत्सुकता के तहत हो गई थी। जुए में जीती रकम से ही आगे जुआ खेलना, मैंने नियम सा बना लिया था; परंतु यह लत तो खाई में ही धकेलती है। आगे मैं डबलरोटी से प्राप्त रुपए भी इसमें गँवाने लगा। यह बात, ताई-अन्ना से अधिक दिनों तक छिपी न रह सकी। जैसे ही ताई को इसकी भनक लगी, उसने मेरी खूब पिटाई की। जुए की लत में बिखर गई अनेक गृहस्थियों के उदाहरण देकर मुझे समझाती भी रही। फिर भी मैं सुधर न रहा था। अंत में ताई ने निर्णय कर लिया कि डबलरोटी से जो पैसा आता है, उसी में मुझे अपनी पढ़ाई आदि का खर्च निभाना है, तब मुझमें कुछ-कुछ सुधार आने लगा। नवीं कक्षा तक यह गंदी आदत मुझसे किसी हद तक चिपकी रही, जब मैं दसवीं में पहुँच गया, ताई ने डबलरोटी बेचने पर पाबंदी लगा दी। मेरी आवक पूरी तरह से रुक गई और यह मुझे जुए की लत से भी मुक्त कर गई।

मुझे एक और आदत भी लग गई थी। स्कूल से भागकर वीडियो की दुकान में जाकर फिल्में देखना। डबलरोटी बेचने पर पाबंदी आ जाने से मेरी जेब खाली रहने लगी। सत्र के आरंभ में ताई मुझे एक रुपया देती थी, जिसका उपयोग यदि किसी कारण से बस नहीं आती है, तभी करने के लिए! समय-समय से वह एक

(मात्र) रुपया मुझे ताई को दिखाना पड़ता था। यह सारा मामला मेरे दसवीं कक्षा में आने से पहले का था।

मेरे अन्य दोस्त जब सिनेमा देखने (चोरी छिपे) जाते थे, तब मुझे भी वहाँ जाने का मोह हो जाता था। कोई दोस्त मेरा भी टिकट खरीद लेता था, इस शर्त के साथ कि अगली बार मैं उसे फिल्म दिखाऊँगा। एक दिन तो मेरी फजीहत ही हो गई। हमारा 'गैंग' स्कूल से भागकर सिनेमाघर जा पहुँचा। हॉल में अँधेरा हो जाने के बाद मैं दुबककर पिछली बेंच पर जा बैठा। अँधेरे में अपने पास कौन बैठा है, यह बात ध्यान में आई नहीं। थोड़ी देर बाद समझ में आया कि मैं अपने चचेरे भाई के निकट बैठा हूँ। बाद में उसने मुझे धमकाया और धौंस भी दी कि वह ताई से सब कुछ कह देगा। परंतु हम दोनों शायद एक ही थैली के चट्टे-बट्टे थे सो उसने ताई से चुगली करने की हिम्मत नहीं की। मामला रफा-दफा हो गया।

डबलरोटी के काम ने मुझे पैसा दिलवाया, तब सिनेमा देखने की लत बढ़ती गई। दूसरों के पैसे से सिनेमा देखनेवाला मैं अब दोस्तों को सिनेमा दिखाने लगा। सिनेमा देख लेने के बाद मन में अपराध की भावना अवश्य जाग जाती थी। मैं भगवान् से प्रार्थना करता था कि मैं ऐसा गलत काम दोबारा नहीं करूँगा, ताई को पता न चले भगवान्! परंतु यह चक्र जल्दी रुक न पाया।

खाली जेब रहने पर मैं उसका इलाज खोजने लगा। कई तरीके अपनाए। घर में पैसे कहाँ रखे जाते हैं, इसकी टोह मैं लेने लगा। जगह मालूम हो जाने पर चुपके से कुछ पैसे चुराने भी लगा। परंतु जब ताई को अनुभव हुआ कि हिसाब में कहीं कुछ गड़बड़ है, तब मुझ पर शक किया गया और साथ ही मुझ पर नजर रखी जाने लगी।

अब मैं चोरी भी चतुराई से करने लगा। अक्का अपनी मेहनत के पैसे एक डिबिया में जमा करती थी। उसकी डिबिया चिल्लर से भरी रहती थी, अतः उसमें से एकाध-दो सिक्के गायब हो जाने पर बात किसी के ध्यान में आती न थी। दूसरी बात यह कि अक्का के साथ मैं सब्जी-भाजी बेचने भातखेड़ा जाया करता था। मूली, हरी मिर्च, मेथी, हरी प्याज, बथुआ आदि हम बेचते थे। सब्जी बिक जाने के बाद हम अक्का की सहेली के घर रुक जाते थे। दोनों सहेलियाँ जब गपशप में लगी रहतीं, तब मैं कुछ सिक्के चुराकर भाग जाता था। परंतु यदि अक्का ने पहले से पैसे गिनकर रखे होते, तब मैं मन मसोसकर रह जाता था।

हमारे गाँव के पासवाले गाँव माहीजी में हर हफ्ते हाट लगता था। अन्ना के साथ मैं वहाँ सब्जी बेचने जाया करता था। बीच हाट में हमारी दुकान सजती थी। वहाँ खरीदारों की भीड़ भी लग जाती थी, अन्ना ग्राहक को तौल कर सब्जी देते थे और मैं पैसे लेता था। बैठकवाली बोरी में दो खाने बने रहते थे पैसे रखने के लिए। चिल्लर वहाँ जमा होती थी और अन्ना पाँच रुपए के नोट मुझे जेब में रखने को कहते। उस समय नोटों का हिसाब उनके ध्यान में आता न था, अतः

मैं उनकी नजर से बचाकर एकाध नोट अपनी दूसरी जेब में बड़ी सफाई के साथ सरका लेता था।

बाजार भरने से पहले अन्ना मुझे शंकरभैया के होटल में सेव-चिवड़ा भरपेट खिलाया करते। बड़ा मजा आता था! इन्हीं 'अच्छे' कारणों की वजह से मुझे अन्ना के साथ माहीजी जाना खूब अच्छा लगता था। मुझे हाट के दिन का बड़ा बेसब्री इंतजार रहता था।

पैसा हड़प करने के कई ऐसे गुर मेरे पास थे कि जहाँ शक की कोई गुंजाइश रहती न थी। खानदेश में किसी घर में यदि विवाह, नामकरण जैसे समारोह का निमंत्रण आता है, तब यजमान को भेंट में रुपए देने का रिवाज है। यजमान के लिए यह बड़ा अच्छा रिवाज तो है ही, परंतु मेरे लिए (उन दिनों) वह वरदान साबित होता था। वहाँ की प्रथानुसार इसे 'पैसे बजाना' कहा जाता है। ऐसे समारोह में जाते समय ताई-अन्ना मुझे पाँच रुपए अथवा दस रुपए, 'पैसे बजाने' के लिए देते थे। मैं ऐसे प्रत्येक समारोह में अवश्य जाता था। भोजन के लिए अवश्य रुक जाता था। पैसे बजाने के समय होनेवाली भीड़ में खुशी-खुशी शामिल हो जाता था, ताकि पहचान के लोग मुझे वहाँ देखें। पैसे बजाए बगैर मैं वहाँ से खिसक लेता। यह बात ताई-अन्ना के ध्यान में आने का सवाल ही नहीं उठता था।

इस सबके बावजूद जब मेरे पास पैसे बचते न थे, तब मैं छोटी-मोटी चोरी भी करने लगा। लोगों के खेतों से रबर के पाइप चुराकर कबाड़ी की दुकान में बेच देता था। एरंडोल के कबाड़ी अच्छा पैसा देते थे। पर यह सारा काम पूरी गोपनीयता के साथ ही मुझे करना पड़ता था।

ताई को झूठ से, चोरी से नफरत थी। यदि कभी उसे मेरी इस करतूत का पता चल जाता तो वह आगबबूला हो उठती थी। इसकी सजा थी—जमकर पिटाई करना। पिटाई के बाद वह मुझसे फिर ऐसा न करने का वादा भी लेती थी। मैं भी ऐसा न करने का निश्चय कर लेता था, परंतु दूसरे ही दिन मेरा वादा, मेरा निश्चय हवा हो जाता था।

□

काम करने में शर्म कैसी?

मैंने अपने जीवन में बेबस, विवश मजदूरों का जीवन निकट से देखा है और जाना भी है। बहुत ही कम आय में अपनी गृहस्थी जैसे-तैसे चलानेवाले लोग, ब्याज के बोझ तले दबे असहाय अशिक्षित गरीब परिवारों में ही मेरा आना-जाना रहा है। इन परिवारों की एक आम सोच यह भी कि जिसके घर अधिक बच्चे जनमते हैं, उस घर में कमाई करनेवाले हाथ भी अधिक जुट जाते हैं। इन परिवारों में बच्चे स्कूल जाने के बजाय अपने छोटे भाई-बहनों को सँभालने के लिए घर में ही रुक जाते हैं। कुछ बड़े हो जाने पर माता-पिता के कामों में हाथ बँटाते हैं। मैं भी इन्हीं में से एक था।

अपने बचपन से मैंने ताई और अक्का को दूसरों के खेत में मजदूरी करते देखा है। जब भी घर में पैसे की बहुत तंगी हो जाती, समस्या पैदा हो जाती थी, तब मेरे मन में कमाई करने की तीव्र इच्छा जाग्रत् हो जाती। अपने परिवार को मदद करने को खूब मन करता। फिर मैं ताई, अक्का के कामों में हाथ बँटाता था। जब मैं पाँचवीं कक्षा में था, मुझे पहली बार अपनी कमाई करने का अवसर मिला। मुझे दीवाली की छुट्टियों में कपास के खेत में कपासी चुनने का काम करने का मौका मिला। गाँव में कुछ 'ज्ञानी' लोग ऐसे भी थे, जो लड़कों को काम पर रख लेते थे, ताकि अपनी मरजी अनुसार जरूरत से ज्यादा काम उनसे करवा लेने में आसानी रहती। मुझे ढाई रुपए रोजंदारी पर काम मिल गया। अपनी क्षमता दिखाने के लिए शुरु-शुरु में मैं बहुत जल्दी-जल्दी हाथ चलाने लगा और इसी के परिणामस्वरूप मैं एक अच्छा लड़का कहलाने लगा।

सारा दिन काम करना उबाऊ लगता था परंतु अपने हक की मजदूरी मिलने की खुशी भी बहुत होती थी। कपासी बीनते-बीनते खाली समय में खेत में लगी बेर, इमली आदि चीजें खाने का आनंद तो अलग ही था। कई बार मैं अपने हिस्से का काम फुरती से निबटाकर खेतों की मेड़ पर इमली, बेर आदि खाने के लिए भाग जाता था।

खेतों में गाँव की बहू-बेटियाँ भी काम करने के लिए आती थीं। वहाँ बहुओं को अपने दुःख, यातनाएँ, तकलीफें आदि को आपस में बाँट लेने का, अपना मन हलका करने का अच्छा मौका मिल जाता था। काम करते-करते अपने दुःखों को, अनुभवों को उड़ेलने के साथ-साथ सयानी महिलाओं से सांत्वना, सलाह आदि भी मिलती थी। आपस में अपने मतों का प्रदर्शन भी हो जाता था। उनकी आपसी चर्चाएँ मेरे ज्ञान को भी बढ़ा रही थीं। मुझे अनोखा अनुभव प्राप्त हो रहा था। बहुओं को खेत में काम करने का मौका मिलना, यानी उनके लिए घर की कैद से कुछ घंटों का छुटकारा मिलना ही होता था। इन चर्चाओं को सुनने से पहले गाँव के कुछ परिवारों, लोगों के प्रति मेरे मन में आदर की भावना थी, परंतु

उनके दुर्व्यवहार का पता चल जाने पर, उनकी ओर देखने का मेरा दृष्टिकोण ही बदल गया। इन विषयों के अलावा वे आपस में कई प्रकार की चर्चाएँ करते-करते अपने काम में जुटी रहतीं। कभी-कभार मैं भी अपना मत प्रदर्शित कर लेता था। दिन भर काम करने के पश्चात् शाम को कपास से लदी बैलगाड़ी में बैठकर मैं घर लौटता था। नर्म कपास पर आराम से बैठकर आना अथवा खुद बैलगाड़ी चलाना मुझे खूब अच्छा लगता था।

बढ़ती उम्र के साथ-साथ मेरे काम का स्वरूप भी बदलता गया। दीवाली की पूरी छुट्टी काम करने में बीत जाती। प्रतिदिन की मजदूरी के हिसाब से पूरी रकम का अंदाजा लिया जाने लगा। दीवाली में मिले पैसों में, जरूरत के हिसाब से एकाध हाफ पैंट अथवा कमीज खरीदी जाती थी मेरे लिए। गरमी की छुट्टियों की कमाई में अगली कक्षा की पुरानी पुस्तकें खरीदी जातीं।

जब मैं छोटा था, उम्र के हिसाब से मुझे आधी मजदूरी दी जाती थी। परंतु मेरे काम की क्षमता को देखकर जल्दी ही (आठवीं, नवीं में) मुझे पूरी मजदूरी मिलने लगी थी। उस उम्र में मैं किसी बड़ी उम्रवाले व्यक्ति से अधिक काम करने लगा था। वे स्त्रियाँ, जो बारहों महीने मजदूरी करती थीं, वे काम के प्रति कुछ सुस्त थीं। काम पर देर से आना, दो-चार बार पानी पीना, कलेवा (नाश्ता) करने आदि में वे काफी समय गँवाती थीं। परंतु मैं ऐसा करना पसंद नहीं करता था। अपना निजी काम समझकर मैं काम में भिड़ जाता था, इसीलिए छुट्टी के दिन भी मुझे काम पर बुलवाया जाता था। दीवाली एवं गरमी की छुट्टियों के अलावा अन्य छुट्टियों के दिन भी मैं काम करता रहा। हमारे अपने छोटे से खेत में काम करने के लिए जब बाहर से मजदूर नहीं मिलते थे, तो ताई हमें स्कूल नहीं भेजती थी। हम अपने खेत का पूरा काम करते थे। स्कूल से यों छुट्टी लेना मुझे अच्छा नहीं लगता था, परंतु ताई के आगे मेरी एक न चलती!

खेतों में मैं कई काम करना सीख गया था। कपास बीनना, प्याज बोना, निंदई, गुडई आदि कामों को भी मैं करने लगा। ईख को बाँधना, कुआँ खोदने में मदद करना आदि काम भी मैं करने लगा। इनमें से कुछ काम ऐसे भी थे, जो सिर्फ अनुभवी लोग ही ठीक से कर पाते थे। जैसे प्याज की रोपाई एक वाकई कठिन काम है, परंतु इस काम में मैं माहिर हो गया था। प्याज की बुआई में दो रुपए अधिक की मजदूरी मिलती थी। कई बार खेत के काम में हमारा पूरा परिवार जुट जाता था। प्याज अथवा मूँगफली उखाड़ने के काम में मैं और अक्का भोर में ही खेत पर पहुँच जाते और जुट जाते। ताई बाद में नाश्ता लेकर खेत पर आती थी।

अलग-अलग मौसमों के अनुसार खेत का काम चलता है। बरसात के मौसम में कपासी तथा प्याज की बुआई होती थी। सर्दी के दिनों में बाजरा, जवार की कटाई होती थी। कपासी बीनना, गन्ने को बाँधना आदि काम चलते। गरमी के दिनों में खेती का खास काम कुछ न होता था, परंतु खेतों से कचरा उठाना, बाँध

खोदना, कुआँ खोदना आदि काम चलते थे। किसान की संतान को इन कामों के प्रशिक्षण की जरूरत नहीं होती है, वह अपने आप आ जाता है। और मुख्य बात यह भी कि 'आवश्यकता या गरज' इनसान को कुछ भी सीखने पर मजबूर कर देती है।

मेरे बचपन में मुझे दो कामों से कभी छुटकारा न मिला। पहला काम था चूल्हा जलाने के लिए लकड़ी, कंडों का इंतजाम करना और दूसरा काम था डबलरोटी, सब्जी बेचने सुबह-सुबह निकलना। हम बच्चों की पलटन नियत समय एवं दिनों पर लकड़ी बीनने निकल पड़ती थी। खेतों की मेड़, जंगल से सूखी लकड़ियाँ चुनते थे हम। छोटे-छोटे हरे झंखड़, पौधे तोड़कर हम वहीं रख देते थे और अगली बार हम उन्हें सूखा पाकर उठा लेते थे। कभी-कभी चरवाहों के साथ मैं सुबह-सुबह पद्मालय के जंगल में लकड़ी बीनने निकल जाता था और बड़ा गट्टर सिर पर लादे घर लौटने में शाम भी हो जाती थी।

भील दोस्तों के साथ जंगल में घूमना मुझे सबसे अधिक अच्छा लगता था। जब भी मुझे मौका मिलता, मैं उनके साथ मवेशी चराने अथवा लकड़ियाँ बीनने निकल जाता। नंगे पैर, खुले बदन जंगल में मौज-मस्ती करते हुए घूमनेवाले मेरे भील दोस्त वाकई बलवान और मजबूत होते थे। वे जंगल में खरगोश आदि जानवरों को पकड़ते और वहीं पर आग जलाकर भूनकर खा भी लेते थे। गोह, खरगोश को पकड़ने के लिए उनके पास खास पद्धति के फंदे भी होते थे।

भीलों का जीवन, रहन-सहन वाकई मनमौजी पद्धति का था। पूरे हफ्ते वे कड़ी मेहनत करते। मजदूरी करते और हाट के दिन बाजार से बहुत सारा सामान खरीदते। जी भरकर उस दिन मौज-मस्ती करते। सिनेमा भी देखते और भरपूर आनंद उठाते। दूसरे दिन के लिए कुछ बचाने की मानासिकता उनकी नहीं है। भले ही वे दूसरे दिन से नमक-रोटी खाकर दिन बिताते हों, पर वे पूरे स्वाभिमान के साथ जीते हैं। शिक्षा, आरोग्य, सरकारी योजनाएँ, सुविधाएँ आदि से यह समाज कोसों दूर है। अशिक्षित और पिछड़ा होने की वजह से इस समाज में अंधश्रद्धाओं का खूब बोलबाला है। बीमारी की स्थिति में वे डॉक्टर के बजाय भगत के पास जाना अधिक विश्वसनीय समझते हैं। इस सबके बावजूद वे शादी-ब्याह में जी भरकर खर्च करते हैं, फिर चाहे उन्हें कर्ज ही क्यों न लेना पड़े! इसीलिए यह समाज हमेशा कर्ज के बोझ तले दबा होता है।

शासकीय स्तर पर इन पिछड़े लोगों के लिए उपलब्ध करवाई गई कल्याणकारी योजनाओं में निहित कई योजनाएँ हास्यास्पद सिद्ध हो गई हैं। इनके अज्ञान का अनुचित लाभ लेते हुए, इन्हें मिलनेवाली सुविधाओं को अन्य (धूर्त) लोगों ने हड़प लिया है। जिसे, 'आई.आर.डी.पी. योजना' के अंतर्गत कई लोगों को कर्ज से गाय प्रदान की गई थी। इन खानाबदोश लोगों को देसी गाय दुहना नहीं आता था और उन्हें जर्सी गायें दी गईं। वे उन्हें पालने में असमर्थ थे। इसका असर यह हुआ कि दो वर्षों के भीतर बीस लोगों में से दो लोगों के पास

भी गाय न रह पाई। सारी गाएँ मर गईं। अब उनमें से कोई सालदार है, तो कोई ईंटों की भट्टी पर मजदूरी कर रहा है। लगातार कटनेवाले जंगलों ने उनका जीना दूभर कर दिया है। जीवनयापन के उनके स्रोतों के साथ-साथ उनकी (निर्मल) संस्कृति का भी लोप हो रहा है।

हमें स्वतंत्रता प्राप्त होने पर साठ वर्षों से अधिक का समय बीत गया है, फिर भी भील समाज आज भी दुर्भाग्य से उपेक्षित ही रह गया है। यह समाज राजकीय अथवा सामाजिक दृष्टि से संगठित नहीं हो पाया, इसीलिए इनकी समस्याओं की ओर किसी ने ध्यान दिया ही नहीं। उनके नाम जो जगहें आरक्षित रखी गई हैं, वहाँ नाम मात्र के लिए किसी को नियुक्त किया जाता है, बाकी मलाई तो अन्य कई लोग झटक लेते हैं। भले ही स्वतंत्र भारत में शिक्षा का अधिकार आम जनता को मिला होगा, पर बेचारा भील समाज तो रोटी-रोजी की फिक्र में ही घिस-पिस रहा है। शिक्षा से अधिक महत्वपूर्ण उनकी समस्या पेट से जुड़ी हुई है।

अपने बचपन में मैंने शारीरिक मेहनत के जितने भी काम किए, उनमें सर्वाधिक मेहनत का काम था कुएँ की खुदाई का! टिकाव, सब्बल जैसी पैनी और भारी वस्तुओं को इस काम में उपयोग में लाया जाता है। कुएँ की दिन भर की खुदाई के बाद जो भी मलबा निकलता है, उसे खास प्रकार की टोकरियों में भरकर ऊपर खींचा जाता है। इन टोकरियों को 'सिकाई' कहते हैं। मलबा भरने के बाद इसका वजन खूब बढ़ जाता है। जब मैं इस काम पर था, तब मैंने देखा कि 'सिकाई' में भरी मिट्टी और पत्थरों को दो मजदूर कुछ दूरी पर बने टीले पर डाल देते थे। नए मजदूर 'सिकाई' ढोते थे और अनुभवी मजदूर कुएँ की खुदाई करते थे। करीब एक साल तक किसी ने मुझे कुएँ में उतरने न दिया था। मैं 'सिकाई' खाली करने का काम करता था। एक दिन खुदाई के लिए मजदूर कम थे, अतः मुझे कुएँ में उतरने की इजाजत मिल गई। मेरे काम की प्रशंसा सभी ने की। इन भारी परिश्रमों का मेहनताना प्रतिदिन 5 रुपए मिलता था, जो मेरे लिए महत्वपूर्ण था, क्योंकि जीवन के उस दौर में मेरा सारा ध्यान सिर्फ पैसों की ओर लगा रहता था। काम मेरी क्षमता से कहीं अधिक मेहनत का होते हुए भी मैं उसे करता रहा।

गाँव में किराए पर एक ट्रैक्टर चलता था, जिस पर कुछ मजदूर काम किया करते थे। ट्रैक्टर में पत्थर, बजरी, ईंटें, खाद, गिट्टी, मिट्टी आदि की ढुलाई होती थी। वहाँ मजदूरी अच्छी मिलती थी। इसीलिए मुझे इस काम का आकर्षण खूब था। अन्य सभी प्रकार के (मेहनतवाले) कामों में मैंने अपनी योग्यता सिद्ध कर ही दी थी और अब मुझे ट्रैक्टर पर जाने की तीव्र इच्छा हो रही थी। एक दिन उनमें से एक मजदूर काम पर नहीं आया था और तब मुझे मौका मिल गया।

मुझे खाद बटोरने, भरने का काम बिल्कुल अच्छा न लगता। इस काम में धूल और मिट्टी नाक में, मुँह में चली जाती और साथ ही खाद की बदबू भी असहनीय

लगती। कभी-कभी खाद में अथवा पत्थरों के नीचे बिछू भी होते थे। दिन भर की मजदूरी के बाद शाम को सारा बदन धूल और पसीने के मिश्रण से चिपचिपा हो जाता। गंदगी की एक परत ही सारे शरीर पर बैठ जाती थी। गरमी के दिनों में सारा शरीर जलने लगता।

रोटी-सब्जी के डिब्बे में रखा खाना धूप की वजह से खराब हो जाता। फिर भी मुझे इस बात का गर्व होता था कि उम्र में छोटा होने पर भी मैं बड़े मजदूरों के साथ मुस्तैदी से अपना काम अच्छी तरह से करने की क्षमता रखता हूँ। मैं छुट्टी के दिन अथवा मौका मिलने पर स्कूल अथवा कॉलेज से भागकर इस प्रकार के काम कर लेता था। उस समय का एक किस्सा सदैव मेरे स्मरण में रहा है। ट्रैक्टर में सामान ढोने के लिए हमें आस-पास के गाँवों में भी जाना पड़ता था। एक दिन खाद भरने के लिए हम सारे मजदूर दहीगाँव पहुँचे। जिनके यहाँ हम खाद ढोने गए थे, वे मेरे सहपाठी संग्राम पाटील के चाचा थे। संग्राम स्कूल में (और आगे भी) मेरा अच्छा दोस्त था। वह अमीर घर का लड़का था और उससे मैं अपनी यह परिस्थिति छिपाना चाहता था। गाँव के एक-एक छोर से उनके घर तक दिन भर हमें खाद की ढुलाई करनी थी। वहाँ से मुझे संग्राम का घर साफ-साफ दिखाई दे रहा था। परंतु उससे मिलने की हिम्मत मैं जुटा नहीं पा रहा था। मुझे अपनी गरीबी पर बेहद शर्म आ रही थी। दोपहर में अचानक हम सभी मजदूरों को एक जगह खाने (भोजन) का न्योता दिया गया। गाँव में किसी वृद्ध की मृत्यु हो जाने पर उनकी तेरहवीं के अन्नदान का न्योता था। संग्राम के घर के ठीक सामने ही एक कतार में हमें भोजन के लिए बैठाया गया था। मैंने अपने सिर पर एक बड़ा सा रुमाल इस तरीके से बाँध लिया था कि मेरा आधा चेहरा छिप जाए। मेरे भाग्य ने मेरा साथ दिया। संग्राम के पिताजी खाना परोस रहे थे, परंतु वे भी मुझे पहचान न पाए।

मुझे काम करना अच्छा लगता था। इसके दो-तीन मुख्य कारण थे। काम करने से मुझे पैसे मिलते थे, जिनसे मैं अपने परिवार की थोड़ी सी मदद कर पाता हूँ, यह अहसास ही मुझे बहुत बड़ा संतोष बाँट जाता था। घर की आर्थिक परेशानी को मैं किसी हद तक सुलझा पा रहा हूँ, इसकी खुशी भी मिलती थी। 'अब मैं बड़ा हो गया हूँ, कुछ कमाई भी कर लेता हूँ', यह विचार ही मुझे आगे बढ़ने की हिम्मत देता रहा। अतः काम करने का कोई मौका मैं खोना नहीं चाहता था। कई बार तो दिन भर के काम के पश्चात् मैं रात में भी काम पर जाता रहा। रात में नदी से बजरी ढोने का काम मुख्यतः होता था। बजरी का एक पूरा ट्रैक्टर भर जाने के बाद वह निकल जाता था। जहाँ बजरी पहुँचानी होती, वहाँ ट्रैक्टर खाली करने के बाद नदी पर लौट आता था। इसी दौरान हम लोग सो लेते थे। ट्रैक्टर के लौटते ही दोबारा उसे भरने के काम में हम जुट जाते थे।

मेरी आदरणीय ताई ने मुझे जो सीख दी थी, उसी के अनुसरण की मेरी पूरी कोशिश होती थी। उसी सीख के फलस्वरूप आलस, बहानेबाजी, काम से जी

चुराने जैसी व्यर्थ की आदतों से मैं कोसों दूर बना रहा। मेरे स्कूल तथा कॉलेज के सहपाठियों के हाथ नरम होते थे और मेरी हथेलियाँ छिलन भरी! हाथों में घट्टों के निशान पड़े होते, परंतु मुझे इस पर गर्व होता था। कभी-कभी मुझे अपने आप पर दया भी उमड़ पड़ती थी।

बचपन की कड़ी मेहनत ने मुझे जीवन में बहुत कुछ दिया। शारीरिक दृष्टि से मैं मजबूत बन गया। धूप, बारिश, आँधी आदि के सहने की क्षमता मेरे शरीर में पूरी तरह से रच-बस गई थी। किसी भी कठिन काम से पार पाना मैं सीख गया। काम का डर भी मन से निकल गया। परिश्रम के बल पर जीवन-यापन करनेवाले लोगों के प्रति, किसानों, मजदूरों की समस्याओं के प्रति, उनके पोषण के प्रति मैं अधिकाधिक संवेदनशील होता गया। बचपन में झेली गरीबी ने, अपार परिश्रम ने मेरी मानसिक और शारीरिक सक्षमता में अपार बल भर दिया। उन अनमोल अनुभवों ने मेरे जीवन को एक अनोखा आयाम प्रदान किया, यह एक अकाट्य सत्य है।



बापू, अन्ना से पैसे दिलवाओ!

गाँव में दसवीं के छात्रों को लेकर बड़ी चर्चा रहा करती थी। उनमें से कौन पढ़ाई की ओर ध्यान दे रहा है, कौन पास होगा और कौन फेल होगा, इसका अंदाजा भी लगाया जाता था। परीक्षाफल घोषित हो जाने पर उत्तीर्ण छात्रों की बड़ी शान रहती थी। वे पेड़े बाँटकर लोगों का मुँह मीठा करवाते थे। मेरा आचरण देखकर गाँव में किसी को भी ऐसा लगता न था कि मैं दसवीं कक्षा उत्तीर्ण भी करूँगा। मेरे माता-पिता ने अंतिम उपाय के तौर पर मुझे दो जगहों पर ट्यूशन लगवा दी। मेरा डबलरोटी बेचने का व्यवसाय भी बंद करवा दिया, ताकि मैं पढ़ाई की ओर अधिक ध्यान दे सकूँ। लोग मुझे भी एक अच्छा लड़का समझें, परंतु मुझे इन सब से कुछ लेना-देना नहीं था। दसवीं की परीक्षा से कैसे पार पाया जा सकता है, इसी उधेड़-बुन में मैं रहता था।

तब मैं नवीं कक्षा में था जब एक घटना ने मेरी सोच को बदल दिया। उसके बाद मेरे जीवन में वाकई परिवर्तन आने लगा। मुझे तो सारा गाँव 'एक बिगड़े लड़के' की नजर से ही देखता था। यदि मेरे साथ गाँव के किसी लड़के को देख लिया जाता तो उसके बिगड़ने की आशंका सभी के मन में आ जाती थी। उसे उसके घर में जमकर डाँट पड़ती थी। मैं इतना अधिक बदनाम था अपने कारनामों को लेकर कि यदि गाँव में कुछ गलत बात घटित हो जाती थी या कोई बखेड़ा खड़ा हो जाता था, तब इसमें मेरा हाथ अवश्य रहा होगा, ऐसा यकीन ही गाँव वालों में फैला रहता। गाँव की स्त्रियाँ ताई को खूब खरी-खोटी सुनातीं। सभी के ताने सुनकर ताई के स्वाभिमान को गहरी ठेस पहुँचती। एक दिन वह आटा पिसाने चक्की पर गई थी। चक्की की मालकिन ने ताई के सामने अपने बेटे को डाँटकर चेतावनी दी कि वह मेरे साथ न दोस्ती करे और न ही खेले! ताई को भी ताने दिए। दोनों में वाक्युद्ध छिड़ गया। उस स्त्री ने ताई से कुछ ऐसे शब्द कहे, जो ताई के हृदय को गहरे बिंध गए। उस दिन ताई की सारी प्रतिष्ठा, स्वाभिमान चूर-चूर हो गया।

अपनी ताई के बारे में मैं क्या कहूँ? अपने आचरण के बल पर, कड़ी मेहनत के आसरे ताई ने गाँव में अपना ऊँचा स्थान बना लिया था। जीवन में अपना आत्मसम्मान बनाए रखने के लिए उसने कभी भी अपनी गरीबी में भी, अपने उच्च आचरण के साथ कोई समझौता नहीं किया था। छोटी उम्र में उसका विवाह हो गया था और उस समय घर की संपत्ति पर उसकी ससुराल के 'गीदड़' रिश्तेदार अपनी आँखें गड़ाए बैठे थे। अन्ना गाँव से बहुत दूर नौकरी करते थे। ताई ने ऐसे कठिन चक्रव्यूह में भी खुद को दृढ़ बनाए रखा। हर मुश्किल का सामना करते हुए उसने अपने आत्मसम्मान का जतन किया था।

उस दिन जब वह चक्की से लौटी, उसका हृदय गुस्से से उबल रहा था। बिना किसी वजह के उस दिन उसने मुझे बहुत फटकारा। फटकारते वह बेबस होकर रो भी रही थी। हर समय किसी पहाड़ की तरह अडिग रहनेवाली मेरी ताई, बर्फ की चट्टान की तरह पिघल रही थी। वह असहाय, बेबस हो गई। मुझे मेरी ताई पर दया आ रही थी और अपने प्रति तिरस्कार की तीव्र भावना भी मन में जाग रही थी।

मार खाने के बाद मैं बाहर जा बैठा। ताई के एक-एक शब्द को याद करके रो रहा था। अब तक की हमेशा की मार मेरे लिए कोई मायने नहीं रखती थी। मैं सबकुछ भूलकर अपने काम में जुट जाता था। उस दिन ताई ने जैसे धीरज ही खो दिया था। उस दिन की मार मुझे सर्वथा भिन्न प्रतीत हो रही थी।

यह सच है कि मैं हमेशा शैतानियाँ करता रहता था। लड़ाई-झगड़ा भी कर लेता था, परंतु मेरे सामने कोई ताई को कुछ कहे, इसे मैं सह भी न पाता था। इससे पहले जब भी मैं पिटता, मुझे खाना कब और कैसे मिलेगा, इसकी चिंता मुझे लगी रहती थी, परंतु उस दिन तो जैसे मेरी भूख ही मिट गई थी। बार-बार ताई का बेबस, हताश चेहरा मेरी आँखों के सामने तैर जाता। वही चेहरा मुझे इस कदर बिंध रहा था कि मेरी हिचकियाँ कितनी देर तक रुलाई के साथ मुझसे लिपटी रहीं।

मेरे लिए वह दिन आज भी अविस्मरणीय है। वह घटना मेरे जीवन को नए मोड़ पर ले आई। चक्कीवाले के लड़के से मैंने दोस्ती तोड़ ली। मैं उसे टालने लगा। अपनी आवारागर्दी पर मैंने ही किसी हद तक प्रतिबंध लगा लिया। खेलते-खेलते यदि उस घटना का स्मरण हो जाता, मैं तुरंत खेल रोककर घर लौट जाता। कितने ही दिनों तक मेरे और ताई के बीच का संवाद नहीं के बराबर रह गया था। गरदन उठाकर ताई से बात करने की हिम्मत मैं जुटा न पा रहा था। मैंने मन-ही-मन दृढ़ निश्चय कर लिया कि आइंदा ताई को किसी भी प्रकार की तकलीफ मुझे नहीं देनी है। मेरी ओर से वह आहत न हो, इस बात का मैं पूरा ध्यान रखने लगा।

अब वाकई मेरे विचारों, आचारों में बदलाव आने लगा था। मानसिक स्तर पर हो रहे ये बदलाव उम्र के हिसाब से थे अथवा किन्हीं और कारणों से थे, इसके बारे में मैं कुछ नहीं जानता। दसवीं कक्षा में जाने पर बदलाव की क्रिया गति से होने लगी। अपनी पढ़ाई के प्रति मैं सजग होने लगा। मुझमें हो रहे अचानक बरताव के बदलाव को लेकर घर में चर्चा होने लगी। इससे पहले मैं जब भी पढ़ने बैठता, पढ़ाई की पुस्तक की ओट में कहानी अथवा उपन्यास आदि पुस्तकें होती थीं। मेरी यह पोल पहले कई बार खुल चुकी थी। इसीलिए अब भी ताई-अन्ना के मन में आशंकाएँ जागतीं। वे सत्य को जाँचने लगे और मेरी सच्चाई को जानकर वे राहत महसूस करने लगे। दसवीं कक्षा में पढ़ते समय मुझमें हो रहे परिवर्तन का बहुत बड़ा श्रेय मेरे दोस्त संग्राम पाटील को था।

मुझे आज भी वह दिन याद है जब मैं पाँचवीं कक्षा में दाखिला लेने के लिए गया था। स्कूल का वह पहला दिन था। अलग-अलग गाँवों-खेड़ों से लड़के अपने पिता के साथ एरंडोल की स्कूल में आए थे। मेरे गाँव 'ताडे' से आए सभी लड़कों को 'इ' टुकड़ी में दाखिल कर लिया गया था। हम सभी का ध्यान एक गोरे-चिट्टे, तेज-तरार लड़के की ओर बार-बार जा रहा था। फिर पता चला कि दहिगाँव निवासी वह लड़का संग्राम पाटील है। वह किसी भी मायने से गाँव खेड़े का रहनेवाला प्रतीत न होता था।

पाँचवीं कक्षा में वह भी पढ़ाई के मामले में साधारण ही था। मेरी तरह वह भी शैतानियाँ करता। संग्राम के घर की आर्थिक स्थिति मजबूत थी और उसका ननिहाल भी अमीर था। इसीलिए अन्य किसानों के बेटों में वह अलग ही लगता था। उसका रहन-सहन, उसकी बोल-चाल में काफी फर्क था। मैं तो उससे दूर ही रहता था। सातवीं कक्षा में हम दोनों एक ही सेक्शन में आ गए। तब हम एक ही बेंच पर बैठा करते थे। आठवीं कक्षा में दुर्भाग्य से मेरा सेक्शन बदल दिया गया, परंतु दसवीं में फिर हम दोनों एक ही सेक्शन में आ गए। संग्राम हर साल अपनी कक्षा में अव्वल आता था, फिर भी वह खूब पढ़ाकू लड़का नहीं था। शायद इसीलिए मेरी उसकी दोस्ती हो गई थी।

नवीं कक्षा पास हो जाने पर गरमी की छुट्टियों में संग्राम पुणे गया था। जब वह वापस लौटा, मैंने उसमें बड़ा परिवर्तन पाया। उसमें प्रगल्भता झलक रही थी। बड़े शहर में शायद बुद्धिमान लड़कों से उसकी पहचान हो गई थी, उनसे संपर्क बढ़ा था, जिसके फलस्वरूप उसे भविष्य की सही दिशा मिल गई थी। उसकी बातचीत से यह स्पष्ट हो रहा था। वह पढ़ाई में मन लगाने लगा। मेरे सौभाग्य से उसी समय उसकी मेरी दोस्ती बढ़ने लगी। जिन दोस्तों से वह पुणे में मिला था, उनके बारे में, उनके आचारों-विचारों के बारे में वह मुझे बताने लगा था। अब हम दोनों अधिक समय तक साथ-साथ रहने लगे। सुबह की ट्यूशन खत्म हो जाने पर हम स्कूल से कुछ दूर बने एक गोदाम के ओटले पर जा बैठते और स्कूल का समय होने तक वहीं बैठकर पढ़ते थे। वह मुझे मार्गदर्शन करता और मैं उसका अनुसरण! दिनोदिन हमारी दोस्ती बढ़ती गई और एक दिन ऐसा भी आया कि हम सच्चे गहरे दोस्त बन गए।

संग्राम की सोहबत की वजह से मुझमें आमूलचूल परिवर्तन आने लगा था। अपने आपको बदलना बड़ा ही मुश्किल काम होता है। बदलाव का यह संक्रमण काल मुझे वाकई कठिन प्रतीत हो रहा था। लोग कहते हैं कि 'चोर चोरी से जाए, हेरा-फेरी से न जाए'। मुझे अभी भी लोग उन्हीं पुरानी नजरों से देखते थे।

दसवीं का परीक्षाफल घोषित हो गया। मैं अच्छे नंबरों से पास हो गया, लेकिन इसपर किसी को विश्वास ही नहीं हो रहा था। लोगों को मेरी इस सफलता पर आश्चर्य हो रहा था। वे हैरान भी थे। वे हैरान इसलिए भी थे कि

जिन लोगों की पहुँच ऊपर तक होती है, वे अपने बच्चों के नंबरों में हेरा-फेरी करवाकर उन्हें उत्तीर्ण करवा लेते हैं, लेकिन मेरे बारे में तो यह असंभव ही था। इस सफलता ने मेरा आत्मविश्वास कई गुना बढ़ा दिया।

परीक्षाफल जिस दिन घोषित हुआ, उस दिन को भुलाना नामुमकिन है। लोटे में अंगार डालकर मैंने कपड़ों में इस्तिरी कर ली थी। सुबह ही इस्तिरी किए कपड़े पहनकर मैं बस से एरंडोल पहुँच गया। स्कूल का आँगन विद्यार्थियों तथा उनके अभिभावकों से भर गया था। बड़ा कोलाहल था। स्कूल के सूचनापट पर उत्तीर्ण छात्रों के नाम, उनकी गुणवत्ता के अनुसार लिखे हुए थे। संग्राम का नाम अव्वल स्थान पर था। भीड़ में घुसकर मैंने अपनी मार्कशीट (अंक सारिणी) ली। प्राप्त नंबर पढ़कर मैं खुश हो गया। पल भर के लिए ऐसा भी लगा कि कुछ अधिक नंबर मिल जाते तो और अच्छा होता।

सारा दिन एरंडोल में बिताया। सभी पहचानवालों से मिला। शाम को बस में बैठा। लौटते समय मुझे अपना विगत जीवन याद आने लगा। दसवीं तक का सारा जीवन प्रवास किसी चलचित्र के समान मेरी आँखों के सामने उभर आया। ताई के शब्द मन में घूमने लगे, 'चक्कीवाले के बेटे से तुम्हें एक नंबर अधिक लेना ही है!' मैं ताई की यह इच्छा पूरी कर पाया, इसी बात से मैं खुश भी था और अंतर्मन में संतुष्ट भी। जैसे-जैसे मेरा गाँव नजदीक आने लगा, मेरे दिल की धड़कन बढ़ने लगी। ताई से मिलने की मेरी उत्कंठा चरम सीमा पर पहुँच गई। ताई के चरणों में अपनी मार्कशीट रखने के लिए मेरा मन आतुर हो उठा था। गाँव आते ही मैं शीघ्रता से उतरा और तेजी से चलकर घर तक पहुँच गया। दरवाजे पर ताला देखकर बड़ा निराश हो गया। मेरी उत्कंठा घट गई। ताई किसी के खेत पर बुआई के लिए गई हुई थी। शाम को सूर्यास्त के बाद मेरी ताई थकी-हारी घर लौटी। मेरी सफलता को सुनकर वह बहुत खुश हो गई। उसने तुरंत भगवान् की आरती की और पूरी गली में शक्कर बाँटकर सबका मुँह मीठा किया। मैं बार-बार यह बता रहा था कि मुझे कितने अच्छे नंबर मिले हैं, परंतु बेचारी मेरी माँ इसी बात से बड़ी खुश थी कि उसका बेटा पास हो गया है।

दसवीं में जिन छात्रों को अच्छे नंबर मिले थे, वे सभी अमलनेर, धूलिया, जलगाँव निकल गए। एरंडोल का महाविद्यालय शिक्षा की दृष्टि से उतना अच्छा नहीं था। संग्राम भी धूलिया निकल गया। मेरा मन भी बाहर जाने के लिए तरस रहा था, परंतु मेरे लिए यह बात संभव नहीं थी। ताई-अन्ना मेरी पढ़ाई पर प्रतिमाह सौ रुपए खर्च करने की स्थिति में थे ही नहीं। अंत में मैंने एरंडोल के महाविद्यालय में ही दाखिला ले लिया।

वैसे भी मेरा परिवार आर्थिक संकट से घिरा हुआ था। अक्का के विवाह के बाद तो स्थिति और भी बदतर हो गई। अक्का के जाने से ताई की स्थिति और भी विकट हो गई थी। अक्का से, कमाई में और घर के कामों में, ताई को बड़ा सहारा मिलता था। विवाह के कर्जे का ब्याज बढ़ रहा था। ग्यारहवीं का मेरा

शैक्षिक वर्ष हर तरह से कठिन लगने लगा था। छुट्टी के दिन मैं खेतों में काम करता अथवा सब्जियाँ बेचकर ताई की मदद करने की कोशिश करता। उस साल को मैं कभी भी भुला न पाऊँगा, जब प्याज के बाजार में घोर मंदी का दौर आया था। प्याज की अत्यधिक पैदावार हो गई थी। सिर्फ 20 पैसे प्रति किलो के भाव से बाजार में प्याज बिक रही थी। किसानों की लागत की रकम भी इस बार पूरी तरह से डूब गई थी। कई फसलों के दाम तेजी से गिरते गए। आम तौर पर किसान मजदूरी से अपनी गृहस्थी चलाते हैं और फसल से प्राप्त नकद रकम से अपनी उधारी चुकाते हैं, परंतु उस वर्ष सारा मामला ही गड़बड़ा गया था। ऐसे में परिवार का माहौल उस समय तनावग्रस्त हो जाता, जिस दिन कोई लेनदार दरवाजे पर आकर तकाजा करता। दो-तीन दिनों तक वातावरण अनमना रहता। यह सबकुछ सहन करना बड़ा कठिन लग रहा था। तब मेरा मन मुझे बार-बार कहता कि 'तुम बाहर निकलो, कुछ काम करो और अपने माता-पिता के सिर का भारी बोझ कम करो!'

कर्ज के बोझ से किसान किस तरह डूब जाते हैं, मैंने अपनी आँखों से देखा है। गाँव में जितने भी अल्प-भू-धारक हैं, वे सब कर्ज तले दबे पड़े हैं। मूलतः ब्याज की दर ही उन्हें खाई में धकेल देती है। बड़ा विचित्र व्यवहार है ब्याज का। प्रति माह सैकड़ा पाँच की दर से किसान कर्जा लेते हैं। यानी उनकी समझ में यह बात आती ही नहीं है कि ब्याज की दर प्रति सैकड़ा प्रति वर्ष 60 रुपए है। इसे पूरा करना असंभव ही है। गरीबों को कम ब्याज से कोई पैसा देता भी नहीं है। इस हिसाब से जल्दी ही मूलधन के बराबर ही ब्याज की रकम हो जाती है। यानी कर्जा दुगुना हो जाता है। जिस हिसाब से ब्याज बढ़ता है, उस अनुपात में पैदावार कदापि नहीं बढ़ सकती। इसीलिए कर्ज से छुटकारा पाने में किसान असमर्थ हो जाता है, बेबस हो जाता है। तब धूर्त साहूकार किसान से उसका खेत अथवा घर अपने नाम लिखवा लेता है। घर या खेत को साहूकार के चंगुल से छुड़वाना असंभव ही होता है। मैंने आज तक अपने गाँव में किसी भी किसान को अपना गिरवी खेत या मकान छुड़वाते हुए कभी नहीं देखा। हर वर्ष इसी तरह गरीबों की मिल्कियत साहूकार हड़पते रहते हैं।

खेती में लगनेवाले बीज, खाद, रोगप्रतिरोधक दवाइयाँ आदि के भाव दिनोदिन बढ़ रहे हैं और इसी वजह से खेती में मिलनेवाला रुपया कम होता जा रहा है। हमारे इलाके की खेती बरसात के पानी पर निर्भर करती है, अतः वे तमाम खेतिहर भाई हमेशा चिंता और गरीबी से घिरे रहते हैं, जिनके पास बहुत कम जमीन है।

अपने गाँव का एक किस्सा स्मरण हो रहा है। एक किसान के पास पाँच एकड़ जमीन थी। उसके दो बेटे थे। बच्चे जब छोटे थे, किसान का देहांत हो गया। बड़ी मुश्किल से किसान की पत्नी ने बच्चों को पाल-पोसकर बड़ा किया। आगे चलकर दोनों बच्चों के विवाह हो गए। छोटे भाई का नाम था अशोक। विवाह

के पश्चात् दोनों भाई अलग हो गए। बड़ा बेटा भरत, खेती के साथ-साथ खेती से जुड़ा एक छोटा व्यवसाय भी करता था। अतः उसकी गृहस्थी ठीक से चल रही थी। अशोक पूरी तरह से ढाई एकड़ जमीन की खेती पर निर्भर था। खेती के लिए सिर्फ बरसात का पानी उपलब्ध था, जो कम पड़ जाता था। अतः अपने खेत में एक कुआँ खुदवाने का विचार अशोक ने किया। पत्नी ने जेवर बेचकर, अपने रिश्तेदारों से कुछ रुपया उधार लेकर और साहूकार से कर्जा लेकर उसने कुआँ खुदवा लिया। करीब डेढ़ लाख रुपया खर्च हो गया। दुर्भाग्य से उस वर्ष बारिश बहुत ही कम हुई। कपासी की फसल बहुत ही कम हुई, अतः उस वर्ष अशोक कर्जों का एक पैसा भी नहीं चुका पाया। दूसरे साल फसल अच्छी आने के आसार नजर आ रहे थे। सबकुछ ठीक चल रहा था, परंतु कटाई से पहले ही सारी फसल कृषि रोग से ग्रस्त हो गई। महुँगी दवाइयाँ छिड़कने से भी कोई लाभ न हुआ। जैसे-तैसे उसने उस वर्ष कर्जों का थोड़ा सा पैसा अदा भी कर दिया, परंतु वह पर्याप्त न था। अतः बाद में साहूकार और बाकी सभी लेनदार अशोक के पीछे हाथ धोकर पड़ गए। बेबस, लाचार अशोक ने अपनी खेती साहूकार के नाम लिख दी। आगे चलकर उसकी जमीन बिक भी गई। आज अशोक बिलकुल निराश है। दो बेटियों का बेबस पिता अशोक अब दूसरों के खेत में मजदूरी करते हुए अपनी गृहस्थी चला रहा है।

तुकाराम के जीवन की भी यही कहानी है। चार एकड़ की उसकी अच्छी खेती थी। वह बड़ा ही परिश्रमी एवं समझदार किसान था। बड़ी बेटी की शादी बड़ी धूमधाम से की। दहेज भी दिया। उसकी माँ को कैंसर ने ग्रस लिया। उनके इलाज पर बहुत पैसा खर्च किया। इसलिए हमेशा रुपया बचाकर रखनेवाला तुकाराम कर्ज की चपेट में आ गया। लगातार दो वर्षों के सूखे ने उसे पस्त कर दिया। कर्ज को पूरा करने के सारे मार्ग उसने अपनाए, परंतु उसे कहीं से एक पैसा भी न मिल पाया। कर्ज की रकम बढ़ती गई। दूसरी बेटी के विवाह के लिए उसे दो एकड़ जमीन रेहन रखनी पड़ी।

आज ऐसे सैकड़ों अशोक, तुकाराम गरीबी से जूझ रहे हैं। बरसात की अनियमितता, सिंचन का अभाव, फसल से न मिलने वाला उचित भाव, खेती के तरीकों में मार्गदर्शन का अभाव, बाजार का उतार-चढ़ाव आदि कारणों से घटती क्षमता ही हजारों तुकाराम और अशोक पैदा कर रहे हैं।

मेरे परिवार का भी ठीक यही हाल था। मैंने अपने ताई-अन्ना को हमेशा कर्ज में घिरा पाया है। कई लोगों ने कर्ज की फिरौती के नाम पर उनसे चार गुना पाँच गुना रुपए ऐंठे हैं। कर्ज लेना उनकी मजबूरी थी। एक आदमी के 2 हजार रुपए के कर्ज के बदले उन्हें 8 हजार रुपए देने पड़े थे। दूसरे व्यक्ति को 4 हजार रुपए के कर्ज के बदले 20 हजार रुपए का भुगतान करना पड़ा है। इस तरह यह चक्रवृद्धि ब्याज किसानों के लिए फाँसी का फंदा सिद्ध हो गया है। ऐसे थे मेरे

गाँव के दुष्ट लोग! जब मेरी नजर के सामने ऐसे लोग आते थे तब मेरा माथा ठनक जाता था और उन्हें गोलियों से भून डालने का मन होता था।

अपने छोटे से खेत में ताई-अन्ना दिन-रात खटते थे। इतनी मेहनत के बावजूद उनकी तंगी कभी भी कम न हो पाई। फसल घर में आने से पहले ही लेनदारों का हिसाब घर में शुरू हो जाता था। अन्ना बाजार में माल बेचने जाते थे तब हम घर में आस लगाए उनका इंतजार करते कि आज खुशी का दिन है, कुछ मीठा लेकर अन्ना घर लौटेंगे। परंतु सौदा होते ही कुछ लेनदार उनसे वहीं अपने रुपए झटक लेते थे। खाली हाथ लौटे अन्ना को देखकर हम निराश हो जाते थे। कई बार तो मैं स्वयं आवक-जावक का हिसाब लिखने बैठ जाया करता था। बारिश के दिनों में तो सभी किसान परिवारों की हालत खस्ता हो जाती थी। उन दिनों बाहर मजदूरी का काम नहीं के बराबर होता है। यदि किसी ने काम पर बुलवाया भी तो मजदूरी के पैसे समय से नहीं मिलते थे। खेत की बुआई के बाद खेती का कोई काम नहीं रह जाता है। सिर्फ अच्छी फसल के इंतजार में दिन बीतते हैं। हाथों में पैसा होता नहीं है और जीवन जीने के लिए अनिवार्य खर्च चलाना जरूरी होता है। अपने बचपन से, बारिश के साथ जुड़ी असहायता, तकलीफ को मैंने सहा है। आगे चलकर जब मैं नासिक एवं पुणे में रहने लगा था, वहाँ की धुआँधार बारिश को देखकर मेरे मन में टीस पैदा हो जाती थी। तुरंत मेरा मन अपने अतीत में लौट जाता और दुःख भरे दिनों की याद के जंगल में खो जाता।

यहाँ-वहाँ से पैसों का जुगाड़ लगाते हुए ताई-अन्ना की गृहस्थी बड़ी मुश्किल से चल रही थी। एक से रुपया लेकर दूसरे की उधारी मिटाते। दूसरे से कर्ज लेकर तीसरे की उधारी पूरी करते! यही चक्र चलता रहता। तब मैं नवीं कक्षा में था, जब अन्ना ने बैंक से कर्ज लेने के लिए अर्जी दी थी। इस कर्ज के लिए पचासों चक्कर लगाने पड़े थे। गायों को खरीदने के लिए 5000 रुपए की जरूरत थी, परंतु बैंक ने 3000 रुपए का ही कर्ज मंजूर किया था। इतने रुपए में गायों का सौदा हाथ से छिटक गया और वह सारा रुपया अन्य उधारियों को चुकाने में चला गया।

मुझे याद है कि उस वर्ष सरकारी योजना के अंतर्गत गरीब किसानों एवं भीलों के बीच सरकारी कर्जों के तहत जरसी गायों का वितरण किया गया था। इन गायों के भरण-पोषण का, पशुपालन का कोई प्रशिक्षण और अनुभव न होने की वजह से बड़ी कठिनाई पैदा हो गई। पर्याप्त पशु खाद्य चारा तथा दवाइयों के अभाव में कई लोगों की गायों ने एक साल के भीतर ही दम तोड़ दिया। कुछ लाभार्थियों ने अपनी गायें तुरंत बेच दीं और दूसरे कर्जों को चुकाया। धीरे-धीरे गाय के मालिकों का कर्ज बढ़ता गया और एक दिन बैंक के कर्मचारियों ने उनके घरों पर कुर्की लाकर उनका सारा सामान बटोरा और चल दिए।

दसवीं पास हो जाने के बाद मैं एंडोल में ही रुक गया था। संग्राम आगे की पढ़ाई के लिए धूलिया चला गया। परंतु पत्रों के माध्यम से हम दोनों

के बीच का संपर्क बना रहा। जब भी वह दहिगाँव अपने घर आता, मैं पैदल अथवा साइकिल से उससे मिलने दहिगाँव पहुँच जाता। उससे मिलने से, उसकी बातचीत से और उसके पत्रों से मुझे बड़ा आत्मिक बल मिलता। कुछ करने की उमंग मन में जागने लगी। मेरे प्रति उसके मन में व्याप्त चिंता, आत्मीयता एवं विश्वास ही मुझमें आगे बढ़ने की हिम्मत पैदा करता था।

देखते-ही-देखते मेरा ग्यारहवीं का साल बीत गया। किशोरावस्था में मुझे जीवन के अन्य रंगों के भी दर्शन होने लगे। अपने व्यक्तित्व के प्रति मैं कुछ सजग सा हो गया था। क्या मेरी ओर किसी का ध्यान जा रहा है? अपने बारे में क्या कोई कुछ (अच्छा) कह रहा है? इस बात की सतर्कता बढ़ने लगी थी। सपने देखना और उन्हीं में खो जाना, कविताएँ लिखना और वे किसी तक पहुँच जाएँ, यही मेरा रुझान हो गया। इन्हीं बातों में लिप्त रहने की वजह से, खास तौर पर मन-ही-मन उपजे भावरंजन में मगन हो जाने से, इस बात का पता ही नहीं चलता था कि दिन कितनी गति से बीत रहे हैं। जीवन के लक्ष्य से मैं पूरी तरह से अनभिज्ञ सा हो गया था। यदि कभी-कभार इस बात का भान आ भी जाता था तो मुझे खिन्नता घेर लेती थी; परंतु स्वप्नरंजन से मुझे जो आनंद मिल रहा था, उससे विलग होने की मेरी चाह भी नहीं रही थी।

इसी दौरान संग्राम मेरे घर आया था। मेरे बारे में उसने औरों से पूछताछ की। मेरे बारे में चर्चा भी की। तब उसके ध्यान में आया कि मैं फिर से राह भटकनेवाला हूँ। मैं अपने लक्ष्य से विचलित होकर निरुद्देश्य मार्ग पर शायद निकल चुका हूँ। इसी आशंका के चलते उसने मुझे एरंडोल छोड़ने की और धूलिया आने की सलाह दी। इसके साथ ही फालतू विचारों में न खोने की ताकीद भी दी। धूलिया के महाविद्यालय में दोबारा ग्यारहवीं में (बीच में ही) दाखिला मिलना असंभव ही था, परंतु आदरणीय के.बी. पाटीलजी ने मेरी डूबती नैया को बचा लिया। मेरी सारी परिस्थिति को जानने के बाद उन्होंने मुझसे पक्का वादा लिया—‘जी तोड़ मेहनत का और अपने आपको पढ़ाई में ही मगन रखने का!’ उन्हीं की कृपा से मुझे धूलिया के ‘जयहिंद महाविद्यालय’ में दाखिला मिल गया। उसके बाद मेरा जीवन सही दिशा की ओर निकल पड़ा।

वैसे धूलिया गाँव के प्रति मेरे मन में बचपन से कुतुहल और आकर्षण अवश्य था। बचपन में हम ‘भातखेड़ा’ जाकर सब्जी-भाजी बेचते थे। वहाँ से रोज एक बस धूलिया जाया करती थी। वहाँ के बड़े चर्चे हम लोग सुना करते थे। हमारे कई रिश्तेदार धूलिया के आस-पास बसे थे। परंतु धूलिया जाने का मौका कभी मिला न था।

धूलिया के ‘जयहिंद महाविद्यालय’ से पैदल दस मिनट की दूरी पर मुझे एक छोटा सा कमरा मिल गया था। कक्षा में समय से पहले मुझे वहाँ पहुँचना आसान था। वैसे धूलिया कुछ अविकसित नगर है—सँकरी गलियाँ, दुतरफा बहते खुले गटर, बेतरतीबी से बिखरे फैले मकान। सुबह-शाम रास्ते, भीड़ से भरे

होते थे। जिस इलाके में मेरा कमरा था, वह शहर की दूसरी ओर था। यानी 'वाघूर' नदी की वजह से इस नगर का विभाजन हो गया था। इस इलाके को देवपुर कहा जाता है। देवपुर में प्रमुख रूप से नई बस्तियों का निर्माण हुआ है। मुख्य शहर से देवपुर को जोड़नेवाले तीन पुल नदी पर बने हैं। इस इलाके में कभी-कभी पानी की तकलीफ होती थी। नगरपालिका की अव्यवस्था के चलते कई जगहों पर गंदे पानी की निकासी के लिए गटर तक खुदे न थे। हमारे परिसर में कई जाने-माने लोग रहते थे, जिनके नाम हमेशा अखबारों में छपते थे।

धूलिया के इस छोटे कमरे में अपना खाना मैं स्टोव पर बनाया करता था। मिट्टी का तेल और आटे का जुगाड़ मुझे ही करना पड़ता था। अन्ना घर से दालें, पापड़, गेहूँ आदि वस्तुएँ ले आते थे। मिट्टी का तेल लाने के लिए मुझे पुराने धूलिया के बारा कंदील परिसर में जाना पड़ता था, जो मेरे कमरे से बड़ी दूरी पर था। मैं अन्ना की पुरानी साइकिल धूलिया ले आया था, जो मेरे काम की चीज थी। जिस चक्की पर मैं गेहूँ पिसाने जाता था, वहाँ एक अंधा व्यक्ति काम करता था। उसकी पत्नी गूँगी-बहरी थी। वह कॉलोनी में लोगों के घर बरतन माँजने और कपड़े धोने का काम करती थी। उनके दो बच्चे थे, जो पूरी तरह से स्वस्थ थे। उन बच्चों को मैं कभी पिता के साथ खेलते हुए देखता, तो कभी माँ के साथ। बड़ी खुशी होती थी मुझे यह सब देखकर। बच्चों का ऊधम देखकर माँ अपने गले से बड़ी विचित्र आवाज निकालते हुए उनके पीछे दौड़ा करती। माँ की आँखों से बच्चों के प्रति उमड़ रहा स्नेह और कौतुक छलक-छलक जाता था। उस छोटे से परिवार को देखकर मुझमें भी नया जोश भर जाता, तो कभी-कभी मुझे अपने आप पर शर्म भी आती थी।

बहुत बड़ा महाविद्यालय। नए महाविद्यालय में मेरा नया जीवन आरंभ हो गया। दूर-दराज से वहाँ विद्यार्जन करने के लिए आए मेधावी छात्र, मेहनती, सुशासित अध्यापकगण और निरंतर पढ़ाई में मगन रहनेवाले मेरे परम मित्र आदि के सान्निध्य से मेरे जीवन को सही दिशा मिल गई थी। अपने अच्छे माहौल को, दोस्तों को छोड़कर संग्राम मेरे साथ उस छोटे से कमरे में रहने के लिए आ गया था। कमरे का किराया, पुस्तकें, कॉपियाँ आदि का खर्च भी संग्राम ही उठा रहा था। कमरे के एक कोने में मैं अपनी रसोई बनाता था और संग्राम भोजनालय में खाना खाने जाता था। संग्राम की पढ़ाई में लगान, जिद और मेहनत देखकर मुझे भी पढ़ने में रुचि पैदा हो गई। धीरे-धीरे मैं अच्छी आदतों का अभ्यस्त होने लगा। खूब मन लगाकर पढ़ने लगा। पढ़ाई में हम इस कदर खो जाते कि हमें भूख, प्यास, स्नान आदि का भी होश न रहता। संग्राम को तो किसी भी हालत में डॉक्टर ही बनना था। वही उसका सँजोया सपना था। मेरे जीवन की कोई निश्चित मंजिल तय नहीं हुई थी, फिर भी मैं यह अवश्य जान गया था कि जीवन में ऊँचा स्थान पाने के लिए अध्ययन ही एकमात्र विकल्प है। कुछ बनकर दिखाने के लिए पढ़ाई अनिवार्य है।

हर पखवाड़े, अन्ना मेरे लिए गेहूँ, दाल, चावल लेकर धूलिया आते थे। मैं एक समय सब्जी-रोटी बनाता था तो शाम को खिचड़ी। मेरे कुछ मित्रों के खाने के डिब्बे आते थे। कभी-कभार किसी दोस्त के गैरहाजिरी में खाने का डिब्बा मुझे मिल जाता था।

मेधावी छात्रगण संग्राम के पास पढ़ाई की चर्चा हेतु आया करते, परंतु वे मेरी ओर तुच्छता से देखते। वे सर्वाथ से अलग तबके के हैं, इस बात का अहसास मुझे दिला जाते। परंतु संग्राम का मेरे साथ बड़ा ही स्नेहपूर्ण व्यवहार रहता था। मैंने भी अपनी मर्यादा में रहने की पूरी कोशिश की थी। समय के साथ मैं दुनियादारी सीखता गया। मेरी वैचारिक क्षमता बढ़ती गई। इसी के फलस्वरूप मैं पढ़ाई खूब मन लगाकर करने लगा। उसी में अपने आपको अधिकाधिक व्यस्त रखने लगा। इसी आदत से मैं कितनी ही तकलीफों से पार पाता गया। समाज में घटित हो रही अनेक घटनाएँ मेरे युवा एवं संवेदनशील मन पर आघात कर रही थीं। बाबरी मसजिद का कांड और उसके परिणामस्वरूप उपजे दंगों को मैं आज भी भुला नहीं पाता हूँ। जिस गली में मैं रहता था उसके नुक्कड़ पर एक मुसलमान भाई की इस्तिरी करने की छोटी सी टपरी थी। कुछ समाज कंटकों ने टपरी में आग लगा दी, जिसमें वह बेचारा जलकर खाक हो गया। लोगों की चीखें, असहाय होकर किया गया विलाप मुझे खूब बेचैन कर जाता। वह परिस्थिति, घुटन, लाचारी मेरी सोच को बदल रही थी। मैं बहुत कुछ सीख रहा था।

मुझे विशेष रूप से एक बात अवश्य प्रतिपादित करनी है। संग्राम के प्रोत्साहन कि वजह से ही मैं धूलिया जाने का निर्णय कर पाया। इस महत्वपूर्ण निर्णय ने मेरा जीवन ही बदल डाला। उससे बातें करने पर मेरे अंदर यह विश्वास जागा कि संग्राम की मदद से मैं हर समस्या का सामना कर सकूँगा। मेरे माता-पिता की इतनी हैसियत नहीं थी कि वे मुझे धूलिया भेजकर पढ़ाई का मौका दे सकें। संग्राम ने स्वयं मुझे प्रोत्साहित करते हुए हर कदम पर मदद करने का जैसे वादा ही कर दिया था। मेरे वहाँ पहुँचते ही वह मेरे कमरे में रहने के लिए आ गया। मेरे साथ रहने से कई मुश्किलों का सामना उसे करना पड़ा। मैं अपना खाना अपने हाथों से बनाता था अतः उस छोटे से कमरे में धुआँ, बरतन आदि की तकलीफें थी ही। मेरे कितने ही खर्चे उसने उठाए हैं। उसके लिए कुछ कहूँ तो मेरे पास शब्दों का भी अभाव है! वह साल हम दोनों के जीवन का निर्णायक वर्ष सिद्ध हुआ। हम अपने भविष्य के प्रति सजग हो रहे थे। कई सामाजिक घटनाएँ हमारे किशोरमन पर अपना असर डाल रही थीं। हमने अच्छे विचारों का अवलंबन करना आरंभ कर दिया था। उस कठिन समय में आपसी दोस्ती दृढ़ बनाए रखने के लिए हम पूरी तरह से तैयार रहे। आपसी मतभेदों को, द्वेष को और मनमुटाव को हमने अपने पास फटकने तक न दिया। बड़ी कठोर परीक्षा से गुजरे थे हम दोनों उस समय। हम दोनों ने अपनी जरूरतों का, अपनी त्रुटियों का, स्वभाव

भिन्नता का तथा अपने आत्मसम्मान का आदर ही किया था। इसी वजह से हम अपनी सच्ची दोस्ती निभा पा रहे थे। कुछ लोगों ने हम दोनों के स्नेह में जहर घोलने की कोशिश भी की थी, परंतु वह नाकाम रहे।

बारहवीं की परीक्षा हो जाने के बाद मैं गाँव लौट आया। परचे अच्छे रहे थे। लौटकर मैं फिर से अपने निहित कामों में जुट गया। अब मैं बड़े कामगार की श्रेणी में गिना जाने लगा था। मैंने रात भर ट्रैक्टर में बजरी भरने का काम स्वीकार लिया था। मैं खेत में प्याज की फसल को सुबह पानी देने भी जाता था।

परीक्षाफल घोषित होने के दिन मैं एरंडोल होते हुए धूलिया के लिए निकल पड़ा। पिछली सारी रात ट्रैक्टर पर बिताई थी। मन में कई प्रकार की भावनाओं का कल्लोल उठ रहा था। डर, अनिश्चितता, उत्सुकता का मिश्रण ही मन में अँधड़ मचाए डोल रहा था। मेरे धूलिया पहुँचने से पहले नतीजा निकल चुका था। मैं अपने एक दोस्त के घर जब पहुँचा, तब देखा कि वहाँ और भी कई लड़के आए हुए थे और खुशी से वे भविष्य की योजनाओं पर चर्चा कर रहे थे। किस शाखा में अर्जी देनी है, किन-किन प्रमाण-पत्रों को जोड़ना है, किस महाविद्यालय में जाना है, आदि-आदि की चर्चा में वे मगन थे। मैं तुरंत वहाँ से कॉलेज की ओर भागा। जैसे-जैसे मैं कॉलेज के नजदीक पहुँच रहा था, मेरा गला सूखने लगा। भगवान् का स्मरण करते हुए मैंने कॉलेज के प्रांगण में प्रवेश किया। बरामदे में बड़े फलक पर उन छात्रों के नाम लिखे थे, जिन्हें ऊँची श्रेणी मिली थी। दौड़कर मैं वहाँ पहुँचा। उन नामों में मेरा नाम भी लिखा था। जिसे पढ़कर मेरा दिल बल्लियों उछलने लगा।

अपना अंक-पत्रक लेकर मैं दूसरे दिन घर की ओर निकल पड़ा। मन में विचारों को बवंडर मचा था। पहली कक्षा से लेकर ग्यारहवीं कक्षा तक कभी भी इतने अधिक नंबर मुझे नहीं मिले थे, जितने बारहवीं की बोर्ड की परीक्षा में मुझे मिले थे। वे नंबर इतने थे कि मैं वैद्यक शाखा में अथवा अभियांत्रिकी में आसानी से दाखिल हो सकता था। मेरी बस एरंडोल से गाँव की ओर निकल पड़ी। जैसे-जैसे मेरा गाँव निकट आने लगा, मेरा मन अधीर होने लगा। ताई से मिलने के लिए मन आतुर हो उठा। गाँव में बस रुकते ही मैं तीर की तरह घर के लिए दौड़ पड़ा। वहाँ पहुँचा तो पाया कि दरवाजे पर ताला पड़ा है। शंकरदादा के खेत पर मेरी माँ काम करने गई थी। शाम तक बाट जोहनी पड़ी। सभी लोगों के घर लौटने से पहले के खाली समय में मेरी खुशी अपने भविष्य की घोर चिंता में बदल गई थी।

आखिर वही हुआ। मेरे अच्छे नंबरों की सभी ने खूब प्रशंसा की, परंतु आर्थिक मदद का हाथ किसी ने नहीं बढ़ाया। अतः वैद्यक, अभियांत्रिकी अथवा किसी अन्य तकनीकी शाखा में पढ़ने मैं जा न सका। बारहवीं के बाद संग्राम ने पुणे के मेडिकल कॉलेज में दाखिला ले लिया। उसकी और मेरी राह बदल गई, परंतु पत्रों द्वारा हमारा संपर्क निरंतर बना रहा। मैंने बैंक में भी शिक्षा की मदद

हेतु अर्जी दी, परंतु अन्ना का आई.आर.डी.पी. का कर्ज भुगतान बाकी रहने की वजह से वहाँ के मैनेजर ने अपनी असमर्थता जताई। उन दिनों मेरी अक्का नासिक में थी और जीजाजी का सहारा था, इसीलिए मैंने बी.एस.सी. में वहाँ के कॉलेज में दाखिला ले लिया।

मेरे एक दोस्त, अशोक ने पुराने नासिक इलाके में एक शिक्षिकाजी के घर मेरे रहने की 'निःशुल्क' व्यवस्था कर दी। हमारी पाध्ये नामक अध्यापिकाजी ने मेरे भोजन का खर्च वहन करने की जिम्मेदारी स्वीकार ली। इसी दौरान मुझे ट्यूशन पढ़ाने का मौका भी मिल गया, जिसके द्वारा मेरे मासिक (अन्य) खर्च वहन करने की सुविधा हो गई। इस प्रकार से उपाधि हासिल करने के वे तीन वर्ष अलग-अलग स्थानों पर बीत गए। जीवन के उस अत्यंत महत्वपूर्ण मोड़ पर मुझे कई प्रकार के अनुभव मिले। उन अनुभवों ने मेरे विचारों को सही और समृद्ध दिशा दी, जो मेरे व्यक्तित्व को निखारने में सहायक रहे। उस मोड़ पर ऐसे अच्छे लोग मिले, जिन्होंने जीवन में जूझने की, सम्मानपूर्वक जीने की प्रेरणा दी, स्फूर्ति दी। उन तीन वर्षों के दौरान मिले अनुभवों ने, वैचारिक मंथन ने मेरी झोली में जो महान् 'दान' डाला, उसी के बल पर मेरा भविष्य उज्ज्वल हुआ और मैं सफलता पा सका।

बी.एस.सी. के प्रथम वर्ष के दौरान मैं अक्का के साथ रहा। उसके दो छोटे बच्चों का सान्निध्य रहा। मैं घर में अक्का की मदद करता था। गेहूँ पिसवा लाना, बाजार से सौदा लाना, बच्चों के साथ रहना आदि कामों की जिम्मेदारी मैंने स्वीकार ली थी। पढ़ाई अच्छे से चल रही थी। अक्का के घर से मेरा कॉलेज करीब बारह किलोमीटर की दूरी पर था। मैं साइकिल से जाया करता था।

जीजाजी पुलिस महकमे में थे, अतः हम पुलिस-बस्ती में रहते थे। वहाँ का वातावरण बिल्कुल अलग तरीके का था। पुलिसकर्मियों के बच्चों में पढ़ाई करने की रुचि कम ही पाई जाती। उन बच्चों का अधिकांश समय मटरगश्ती, गुंडागर्दी में बीतता। बहुत कम लड़के दसवीं, बारहवीं में उत्तीर्ण होते और आगे पढ़ते थे। उन सभी की नजरें पुलिस-भरती की ओर लगी रहतीं। कुछ को भरती होने का मौका मिल जाता और बाकी सभी इंतजार में आधा जीवन बिता देते।

सरकारी क्वार्टर दो कमरों के होते थे। कुछ परिवारों में चार सदस्य होते थे, तो कुछ परिवारों में दस। घर की महिलाएँ कम पढ़ी-लिखी होती थीं। इसी वजह से उन परिवारों में छोटी-छोटी बातों से भी लड़ाई-झगड़ा शुरू हो जाया करता। बच्चों की आदतें भी अलग किस्म की थीं—अच्छे कपड़े पहनना, हिप्पीकट बाल रखना और सारा दिन गप-शप में बिताना, उनकी आदत बन गई थी। पढ़ाई-लिखाई में उनकी कोई रुचि नहीं थी, परंतु खेलों में, गणेश-उत्सव, डांडिया आदि की ओर उनका गहरा रुझान रहता था। अतः अधिकांश समय इन्हीं उत्सवों की तैयारी में वे बिताते रहते। सीमित कमाई में पुलिसकर्मी को परिवार चलाना बड़ा ही मुश्किल हो जाता। जरूरत से ज्यादा उधारी हो जाती थी और

आधे से अधिक मासिक वेतन उसी को चुकाने में खर्च हो जाता था। कुछ लोगों को शराब पीने की लत ही डुबो देती थी। फिर गलत मार्ग से पैसा कमाने का धंधा शुरू हो जाता। नाक की सीध में चलनेवाले सज्जन पुलिसकर्मियों के व्यवहार में तथा गलत मार्ग से पैसा कमानेवाले पुलिसकर्मियों के आचरण में ही बड़ा फर्क नजर आता है।

पुस्तकों को पढ़ने की मेरी आदत ने मेरे जीवन को अच्छी राह दिखाई। जो भी पुस्तक हाथ लग जाती, मैं पढ़ लेता था। मेरे पढ़ने के शौक की वजह से विविध प्रकार की जानकारी मेरे दिमाग में जमा होने लगी। विचार करने की मेरी क्षमता बढ़ने लगी। दुनिया की ओर व्यापक दृष्टि से देखने की आदत भी बन गई। पढ़ने की आदत ने मेरे विचारों को गति दी। इसके कारण मीमांसा के प्रति मुझे सजग किया और आत्म परीक्षण करने की बुद्धि भी प्रदान की। धीरे-धीरे मैं समाज के प्रति और अपने कर्तव्यों के प्रति विचार करने लगा। मेरे वाचन को अनुभवों का साथ मिलने लगा। इसीलिए मेरी दृष्टि आत्मकेंद्रित न बनते हुए समाजकेंद्रित होती गई।

ताई ने बचपन से ही शारीरिक तंदुरुस्ती के प्रति हमें सजग किया था। उसे इस बात पर दृढ़ विश्वास था कि तंदुरुस्त शरीर ही समस्त संकटों से मनुष्य को पार देता है। बचपन में खूब खेलने से और काम की मेहनत से मेरी देह मजबूत बनी थी। ताई के आग्रह से मैं वर्जिश भी करने लगा था। फिर मुझे इसमें खूब आनंद आने लगा। दसवीं कक्षा में था, तब सुबह-सुबह मैं दौड़ लगाने जाता था। इसके बाद मैंने वर्जिश कभी भी बंद न की। जब मैं ओझर में मामाजी के यहाँ था, उन्हें उस उम्र में योगासन तथा वर्जिश करते देख मैं चकित रह जाता। अपने आप पर शर्म भी महसूस करता। मामाजी से वर्जिश के लिए प्रोत्साहन मिलने लगा। मेरी अच्छी सेहत का मुझे अच्छा लाभ मिलता रहा। उसी के बल पर अथक परिश्रम करता रहा। आलस, थकान तथा कमजोरी नामक शत्रुओं को मात देता रहा। इसी वजह से मेरी कार्यक्षमता भी बढ़ती गई। समय-समय से चल रही शरीर साधना की वजह से जीवन में आई सभी मुश्किलों से मैं पार पा सका और मेरा मन प्रसन्न रहने लगा।

नासिक में मैं भविष्य की अनिश्चितता तथा परावलंबन की वजह से मन-ही-मन बहुत अस्वस्थ सा था। जब भी घर लौटता, तब चिंता के बादल और घने प्रतीत होने लगते। जब भी घर जाता, लेनदार भी जान बूझकर घर आते। ताई-अन्ना के सामने मुझसे कहते, “बापू, अन्ना से हमारे पैसे दिलवाओ न! इतने दिनों तक दूसरों के पैसे क्या इस्तेमाल किए जाते हैं भला?” यह सुनकर मेरे मन को ठेस पहुँचती थी, परंतु मैं भी असहाय महसूस करता था अपने आपको। मेरे माता-पिता मेरी उपस्थिति में पैसों के बारे में कभी कोई बातचीत नहीं करते थे परंतु मैं उनके चेहरे से उनकी चिंता भाँप लेता था। वे जब घर में नहीं होते थे, मैं चुपचाप उनके हिसाब की बहियाँ (कॉपियाँ) पढ़ लेता था और जान लेता था कि कर्ज

में वे कितने डूबे हुए हैं। नासिक लौटने पर बेचैनी के कारण तीन-चार दिन मैं सो न पाता था।

इस परिस्थिति से उबरने का एकमात्र मार्ग मुझे यह सूझ रहा था कि खूब अच्छी पढ़ाई करनी है और उन्नति करके इन कठिनाइयों से पार पाना है। इस समस्या से उपजी प्रेरणा ही मेरे जीवन का एक प्रमुख अंग बन गई। मन को चुभते अनुभव, ठोकरें और पग-पग पर हो रही उपेक्षा मुझे विचार करने पर बाध्य करने लगी। प्रत्येक कठिनाई से सामना करते हुए मैं और अधिक समझदार होता गया, सजग होता गया। समाज में मौजूद बुरी बातों से मेरा जमकर मुकाबला होने लगा। भ्रष्टाचार, सिफारिश, निहित काम से जी चुराना आदि को मैंने करीब से देखा। समय-समय पर मैं अपने अधिकारों के लिए लड़ पड़ता था। मुट्ठियाँ भींच लेता था। शिकायतें भी दर्ज करवाता था, परंतु मेरे मन को जरा भी चैन नहीं आ रहा था। हम किसी को न्याय दिलवा नहीं सकते, इस बात की टीस मन में सदैव बनी रहती। तमाम गलत बातें थम जानी चाहिए और समाज में प्रामाणिकता, योग्यता का प्रभुत्व होना ही चाहिए, ऐसा लगता था मुझे। इस प्रकार के बदलाव के लिए मैं खुद क्या सहयोग दे सकता हूँ, इस प्रकार का विचार मंथन आरंभ हो गया। इसी मंथन के जरिए एक विचार पक्का हो गया कि समाज में रहकर ही समाज के लिए कुछ करना है।

नासिक में जीवन का नया अध्याय शुरू हो गया। तमाम विगत घटनाओं का मन पर गहरा असर पड़ा था। मैं अपनी असहायता एवं असुरक्षितता पर विचार करने लगा। लेकिन एक बात अच्छी तरह से समझ में आ गई कि यदि परिस्थिति की इस गर्त से बाहर निकलना है तो जल्द-से-जल्द किसी नौकरी में लग जाना जरूरी है। घर में परिस्थिति और भी बदतर होती जा रही थी। दुर्भाग्य से जीजाजी का तबादला भी एक साल में हो गया। आसरे की नई चिंता पैदा हो गई। कुछ दिनों के बाद मेरे दूर के रिश्ते के मामाजी के यहाँ मेरी व्यवस्था हो गई। नासिक से नजदीक बसे 'ओझर' गाँव में वे रहते थे।

नासिक से बीस किलोमीटर की दूरी पर बसा है गाँव ओझर। अमीर लोगों की बस्ती। विमान के कारखाने की वजह से 'हवाई दल की छावनी' के नाम से वह प्रसिद्ध है। मामाजी विमान के कारखाने में काम करते थे, इसीलिए हम कारखाने की कॉलोनी में रहते थे। ओझर की भूमि बड़ी उपजाऊ है। अंगूर, गन्ना, प्याज के खेतों की भरमार होने की वजह से वहाँ समृद्धि वास करती है। इसी वजह से ओझर एक गाँव होते हुए भी शहर की सुविधाओं से लैस है।

कारखाने में ओवरटाइम के पैसे अच्छे मिलते थे, इसीलिए सभी परिवार अच्छा जीवन बिता रहे थे। मेरे मामाजी बड़े ही स्नेहिल एवं सज्जन व्यक्ति हैं। उन्होंने मुझे बड़े स्नेह से अपना लिया था। वे सुबह तड़के जाग जाते और तथा योगासन करते थे। मैंने ओझर में उपलब्ध सुविधाओं का अच्छा उपयोग कर लिया था। मैं भी मामाजी के साथ जाग जाता और सारा परिसर झाड़ू लगाकर साफ-

सुथरा कर देता। इसके बाद वर्जिश के लिए स्टेडियम निकल जाता। मामाजी के उच्च विचारों, दूसरों की मदद करने की आदत, कड़ी मेहनत तथा अपने कामों पर विश्वास रखना आदि विशेषताओं से मैंने बहुत कुछ सीखा। उनका मेरे प्रति रहा स्नेह, अपनापन मुझे जीवन में सदैव उत्साहित करता रहा है। मामाजी तथा उनके दो पुत्र सुनील तथा मनोज का मेरे साथ व्यवहार बड़ा ही स्नेहपूर्ण रहा। जल्दी ही मैं उस परिवार का एक सदस्य बन गया। परिवार में घुल-मिल गया। आस-पास के परिवारजनों की मेरे प्रति गहरी सहानुभूति थी। वे अपनेपन से मेरी पूछताछ किया करते। ओझर का एक वर्ष आनन-फानन बीत गया। इसके बाद मुझे दोबारा नासिक लौटना पड़ा।

मेरा नासिक में रहना, मेरे अच्छे भविष्य के गठन में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। वहाँ की सांस्कृतिक चेतना ने मुझ पर बहुत ही अच्छे संस्कार किए। तीनों वर्षों में मैंने वहाँ मन लगाकर खूब अच्छी पढ़ाई की। समय मिलते ही मैं सार्वजनिक वाचनालय में अथवा हुतात्मा चौक में बने वाचनालय में पुस्तकें पढ़ने जाया करता। ओझर में भी मेरी यह आदत बनी थी। जब मैं कॉलेज के अंतिम यानी तीसरे वर्ष में था, मुझे श्रीमती कोहक नामक हमारी अध्यापिकाजी के बेटे सुजीत को ट्यूशन पढ़ाने का मौका मिला। दोपहर दो बजे मैं कॉलेज की पढ़ाई से निवृत्त हो जाता था और दोपहर तीन से पाँच बजे तक सुजीत को पढ़ाता था। उसे पढ़ाना मुझे बहुत अच्छा लगता था। उसके वहाँ पहुँचने पर पहले हम स्कूल की घटनाओं पर कुछ देर चर्चा करते, फिर जब उसका मन करता, हम पढ़ाई में लग जाते।

उत्तर महाराष्ट्र की राजधानी के तौर पर नासिक बड़ा ही अच्छा शहर है। जलगाँव, धूलिया, नंदुरबार जिले के निवासियों के लिए नासिक शहर आस्था तथा गर्व करने लायक शहर है। इन जिलों के तमाम गाँवों के निवासियों में से प्रत्येक गाँव का कम-से-कम एक व्यक्ति नासिक शहर में अवश्य निवास करता है। अपने बचपन से इस शहर के बारे में मैं बहुत सुनता आया हूँ। मेरे पुलिसकर्मी जीजाजी जब नासिक में थे, मैं पढ़ाई के लिए उनके साथ रहा था। जीवन में पहली बार किसी बड़े शहर के दर्शन मैंने बारहवीं पास होने के बाद ही किया था। इससे पहले मैं धूलिया में था, परंतु नासिक तथा धूलिया में जमीन-आसमान का फर्क है।

शहर में दाखिल होने के बाद एक लंबा समय कॉलेज के प्रवेश की दौड़-धूप में बीत गया। डॉक्टरी अथवा इंजीनियरिंग के प्रवेश की नाकाम कोशिशों के बाद मैंने बी.एस-सी. साइंस में दाखिला ले लिया। कमजोर आर्थिक स्थिति की वजह से एडमिशन लेने में देर हो गई। अच्छे महाविद्यालयों की सीटें पहले ही भर गई थीं, अतः बारहवीं के अच्छे नंबरों के बावजूद मुझे के.टी.एच.एम. कॉलेज में भरती होना पड़ा। मैं जेल रोड स्थित पुलिस बस्ती में रहता था और दस-बारह किलोमीटर दूर साइकिल से आया-जाया करता था।

नासिक शहर की अपनी एक खास संस्कृति है। अत्यंत आधुनिक, पश्चिमी तथा खास भारतीय संस्कृति का समन्वय यहाँ दिखाई देता है। ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित स्वर्गीय कुसुमाग्रज के नाम से नवाजा जानेवाला शहर है नासिक। महान् स्वतंत्रता सेनानी आदरणीय विनायक दामोदर सावरकरजी के पावन चरणों से पुनीत हुआ शहर है नासिक। यहाँ महान् साहित्यिकों एव स्वतंत्रता सेनानियों की संस्कृति की मजबूत नींव है। वर्ष के बारह महीनों नासिक में साहित्य सम्मेलन, साहित्य गोष्ठी, पुस्तक प्रदर्शनी आदि की गहमा-गहमी चलती रहती है। पावन नदी गोदावरी के तट पर बसे धार्मिक स्थल पंचवटी, रामकुंड, काला राम मंदिर, सोमेश्वर मंदिर, त्रंबकेश्वर यहाँ की धार्मिक धरोहर हैं। सनातन ब्राह्मण संस्कृति तथा पारंपारिक मराठी संस्कृति के अवशेष यहाँ तिवंधा, भद्रकाली तथा पंचवटी अंचलों में पाए जाते हैं। नासिक शहर का अत्यंत पुराना हिस्सा है तिवंधा, जहाँ मैं रह चुका हूँ। तिवंधा के चौक पर एक बहुत बड़ा हौज बना है। होली के त्योहार पर इसे रंग से भरा जाता है और सभी लोग बड़े उल्लास के साथ रंगों का यह त्योहार मनाते हैं।

नासिक में स्थापित 'सिडको' की बस्ती नई है, जहाँ 'कसमा' (कलवन, सटाना, मालेगाँव) का खास खानदेशी असर दिखाई देता है। नासिक की राहों पर चलते रिक्शों के ड्राइवरों की बोली खास खानदेश की 'अहिराणी' ही होती थी। बड़ा मजा आता था उसे सुनने में। नासिक की अपनी खास मराठी संस्कृति के साथ-साथ आर्टिलरी सेंटर, एच.ए.एल., देवलाली छावनी तथा हवाई दल की कॉलोनी निवासियों की विविध संस्कृतियों का मिलाजुला प्रभाव पड़ता था। नासिक की संस्कृति, शिक्षा के क्षेत्र की उन्नति, सेहतमंद मौसम की वजह से भारत के विभिन्न भागों से आए अधिकारी वहीं बस जाना पसंद करने लगे हैं। तीन वर्षों के दौरान इस शहर से मेरा जो नाता जुड़ गया, वह हमेशा के लिए बना रहेगा।

डिग्री के तीसरे वर्ष (सत्र) में मैं जहाँ रहता था, वह इमारत एक पुरानी हवेली थी। हवेली की चौथी मंजिल पर बने बड़े दालान में मैं रहता था। मकान मालकिन श्रीमती कुलकर्णी अपने वृद्ध पिता के साथ तीसरी मंजिल पर रहती थीं। दूसरी मंजिल पर एक प्रिंटिंग प्रेस थी। श्रीमती कुलकर्णी कड़े स्वभाव की महिला थीं, परंतु उनके मन में स्नेह का वास था। सुबह छह बजे प्रतिदिन वे मुझे आवाज लगातीं और गरमा-गरम चाय की प्याली देतीं। उनके हाथों की बनी चाय इतनी स्वादिष्ट होती थी कि उसका जायका आज भी मेरे जेहन में ताजा है।

मेरा दालान बहुत बड़ा था। इतनी बड़ी जगह के एक कोने में था मेरा बिस्तरा और पुस्तकों से भरी संदूक। बस इतनी ही थी मेरी गृहस्थी! हाँ, मेरे कमरे में मेरे साथ एक चूहा और एक छिपकली भी रहते थे। मानो वे मेरे संगी साथी थे। श्रीमती कुलकर्णीजी की नौकरानी शांताबाई के घर से मेरा खाना आता था। रोज शाम को मैं वाचनालय में अखबार पढ़ने जाया करता था। लौटते समय

शांताबाई के घर से खाने का डिब्बा ले आता था। शांताबाई बहुत गरीब थी। एक छोटे से कमरे में वह अपने पति एवं दो बच्चों के साथ रहती थी। उनके पति किसी दुकान पर काम करते थे। शांताबाई महरी का काम करतीं और अपनी फटी गृहस्थी में पैबंद लगातीं। उन्हें देखकर मेरे मन में यह विचार कौंध गया कि दुनिया में मैं एकमात्र ऐसा नहीं हूँ, जो मुश्किलों से जूझ रहा हूँ। दुनिया तो दीन-दुखियों से भरी पड़ी है। व्यर्थ ही हम अपनी तकलीफों को महत्व देते रहते हैं।

मेरा मन पढ़ाई में लग गया था, परंतु अपने भविष्य की चिंता सता रही थी। आगे क्या करना है, यह गहन सवाल मुझे बेचैन कर जाता। मन में यह विचार पक्का था कि लोगों के लिए कुछ कर सकूँ, ऐसा ही भविष्य मुझे चुनना है। परंतु उस समय मैं किसी की मदद करने की स्थिति में था नहीं। मेरी छोटी बहन प्रतिभा की शिक्षा का, दूसरी बहन ऊषा के विवाह का सवाल मेरे सामने मुँह बाए खड़ा था। अपने भविष्य के प्रति सजगता मुझमें अवश्य आ गई थी और उसी दिशा में पूछताछ, जानकारी इकट्ठी करने के मेरे प्रयास जारी थे। सोचा कि छोटी सी नौकरी कर लेनी है और अपने लक्ष्य की ओर धीरे-धीरे बढ़ना है। बी.एस-सी. के दूसरे वर्ष ध्यान में आया कि मेरा रुझान संख्याशास्त्र (स्टैटिस्टिक्स) की ओर अधिक है। गणित विषय मुझे बड़ा रुखा-सूखा लगता था और संख्याशास्त्र मुझे जीवंत एवं तर्कशुद्ध प्रतीत होता था। इस रुझान का दूसरा मुख्य कारण था मेरे संख्याशास्त्र के दो उत्तम गुरुजन। इनमें एक थीं हमारी पाध्ये मैडम। उनके प्रति मेरी आत्मीयता अलग स्तर पर थी। उन्होंने मेरी दो वक्त की रोटी का इंतजाम किया था। उनके असीम स्नेह को पाकर मैं कितनी ही बार गद्गद हो जाता। और दूसरे गुरु थे, केरल से आए अत्यंत बुद्धिमान श्री बालचंद्रन सर। वे इस विषय को इतनी सरल पद्धति से पढ़ाते थे कि विषय तुरंत समझ में आ जाता था। इसीलिए संख्याशास्त्र में मेरा मन लग जाता। इस विषय के इतने अच्छे गुरु मैंने फिर कभी देखे नहीं। वे निरंतर मेरा उत्साह बढ़ाते थे।

जो छात्रगण गाँव-खेड़ों से शहर में आते हैं, शुरु-शुरु में उनमें कई बातों का अभाव होता है। आत्मविश्वास की कमी, हीनता की भावना और अंग्रेजी भाषा का जरूरत से ज्यादा डर। इन्हीं कमियों की वजह से वे स्पर्धाओं से कतराते हैं, डरते हैं। इतने बड़े शहर में अपनी कैसे निभेगी? क्या मैं कुछ कर पाऊँगा भी या नहीं? बस यही डर उनके मन में बैठ जाता है। पग-पग पर एक विचार उन्हें सताता रहता है कि लोग मेरे प्रति क्या सोचते हैं, क्या बोलते हैं! वे पीछे रहकर काम करना पसंद करते हैं। अंग्रेजी लिखना वे खूब अच्छी तरह से जानते हैं, परंतु यह भाषा धाराप्रवाह बोल न पाने की वजह से वे अपने आपको बौना महसूस करते हैं। आत्मविश्वास के अभाव में वे अपनी सही कार्यक्षमता को प्रस्तुत ही नहीं कर पाते हैं और पिछड़ जाते हैं। मैं भी ऐसी स्थिति से गुजरा हूँ, परंतु मेरी समस्या इससे भी कठिन थी। दसवीं कक्षा तक मेरी प्रगति नहीं के बराबर होने की वजह से मैं तो बहुत सारी प्राथमिक जानकारीयों से भी अनभिज्ञ था।

देहाती छात्रों का एक और स्वाभाविक समस्या से सामना हो जाता है, शहर में आने के बाद। इस किशोरावस्था में मन किसी किशोरी की ओर आकर्षित हो जाता है और अनोखे सपने बुनने लगता है। भावुकता बढ़ती जाती है। किशोरमन को वह अच्छी लगने लगती है। उसकी आवाज सुनने को कान तरस जाते हैं। मन-ही-मन उसका निरंतर काल्पनिक साथ बना रहता है, क्योंकि उससे बात करने की हिम्मत वे जुटा नहीं पाते हैं। बात करूँ या न करूँ, इसी उधेड़-बुन में समय बीतता जाता है और किसी एक पल वास्तविकता का भान आ जाता है। फिर वह स्वप्न, स्वप्न ही बनकर रह जाता है। उनमें से भी कुछ युवक एक कदम आगे बढ़ते हैं। कोई-कोई तो जीवन के उसूलों से समझौता करते हुए परिवार से अलग रहकर अपनी गृहस्थी भी बसा लेते हैं। गाँववालों को भुलाने की कोशिश करते हुए शहरी जामा ओढ़ लेते हैं। और कुछ समझदार ऐसे भी होते हैं, जो दूर से इस तमाशे को देखकर अपनी मर्यादा में रहना सीख जाते हैं। उन्हीं में से मैं भी एक हूँ।

कॉलेज के तीन वर्षों की मेरी पढ़ाई खत्म हो गई। उपाधि परीक्षा में मैंने बेजोड़ सफलता हासिल की। संख्याशास्त्र में मैं विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम छात्र घोषित हुआ। पूरी परीक्षा में भी मैं सर्वप्रथम रहा। इस सब की खुशी एक पल तक बनी रही, खुशी की जगह भविष्य की चिंता ने ले ली। महाविद्यालय छोड़ने के पश्चात् मैं अपने आपको अनाथ महसूस करने लगा। अपने आपको मैं निराधार समझने लगा। मुझे पुणे विश्वविद्यालय में आगे पढ़ना चाहिए, यही सभी का मत था। आगे पढ़ना इसलिए जरूरी था कि सिर्फ डिग्री प्राप्त करने से नौकरी नहीं मिलती है। पुणे जाने का निर्णय तो कर लिया, परंतु वहाँ जाने के लिए, आगे पढ़ने के लिए पैसों का इंतजाम भी जरूरी था। वैसे मेरी डिग्री के अंतिम वर्ष में मैंने पुणे विश्वविद्यालय के संख्याशास्त्र विभाग में कार्यरत आदरणीय काले सरजी को अपनी दयनीय स्थिति से अवगत करवाते हुए किसी मदद की उपलब्धता की गुंजाइश के प्रति एक पत्र लिखा था। मदद की आस अवश्य थी, अतः मैंने अपने चचेरे भाई से और कुछ शिक्षकों से पैसे लिये और पुणे की ओर निकल पड़ा।

जीवन में इतनी दूर का प्रवास मैं पहली बार कर रहा था। दोपहर का खाना साथ लेकर मैं घर से निकला और पाचोरा पहुँचा। वहाँ से 'महाराष्ट्र एक्सप्रेस' से शाम को निकलने पर दूसरे दिन सुबह पुणे पहुँचा जा सकता है, यह बात मैं जानता था। स्टेशन (पाचोरा के) पर पहुँचकर मैं रेल के इंतजार में बैठा था, परंतु दिमाग में विचारों का बवंडर मच गया था। अच्छे नंबर हासिल करने पर भी मैं पैसों के लिए तरस गया हूँ, इस बात से मन व्यथित हो गया था। संतोष इसी बात का था कि मैं पुणे जा रहा हूँ, जो ज्ञान के जगत् में अपना अनोखा उच्च स्थान बनाए हुए है। मैंने मन-ही-मन दृढ़ निश्चय कर लिया कि मैं जी-तोड़ मेहनत करूँगा और खूब मन लगाकर पढ़ाई करूँगा। मुझे जीवन में बहुत आगे बढ़ना है।

बहुत बड़ा ओहदा प्राप्त करना है। इन्हीं विचारों के साथ मेरा मन अपने उज्ज्वल भविष्य को लेकर चिंतित भी था और भयभीत भी। कोई सुस्पष्ट मार्ग दिखाई दे नहीं रहा था।

गाड़ी सुबह पुणे पहुँची। वहाँ की भीड़ देखकर मैं हड़बड़ा गया। इतने बड़े शहर में मेरी कैसी निभेगी, इसी बात का भय मन में समा गया। राह से गुजरते स्कूल-कॉलेज के छात्रों को देखकर, उनके शानदार साफ-सुथरे कपड़ों को देखकर, उनकी शुद्ध अंग्रेजी-मराठी भाषा को सुनकर मैं बहुत प्रभावित हो गया। बीच-बीच में मैं अपने आप पर भी नजर डाल लेता था, सिर्फ यही जाँचने के लिए कि क्या मैं बिल्कुल देहाती तो नजर नहीं आ रहा हूँ न? मेरे कपड़े, मेरी पोशाक तो ठीक-ठाक है न? खोजते-खोजते मैं बी.जे. मेडिकल कॉलेज के उस छात्रावास में पहुँच गया, जहाँ मेरा परम मित्र संग्राम रहता था।

□

ताडे से पुणे

पुणे शहर मेरे लिए स्वप्नवत् ही था। उम्र के चौथे अथवा पाँचवें वर्ष की बात होगी, जब मैं पहली बार पुणे अपने मामाजी के यहाँ आया था। तब वे पुणे के रास्ता पेठ में रहते थे। छोटे मामाजी पुणे के नजदीक बसे गाँव चिखली में रहते थे। इतना बड़ा शहर देखकर मैं चकित रह गया था। मेरी बोली, बातचीत का ढंग एवं अज्ञानता पर मामा के बच्चे खूब हँसते थे। ताडे लौटने पर कई दिनों तक मैं पुणे की याद करता रहा और वहाँ के किस्से बयान करता रहा।

पुणे आने पर तमाम पिछले संदर्भ का भी स्मरण हो आया। वैसे मैं मुंबई, औरंगाबाद आदि शहर देख चुका था, परंतु पुणे नहीं जा पाया था। यहाँ आने से पहले पुणे के बारे में मैं बहुत सारी बातें जानता था। शिवाजी महाराज के चरित्र को पढ़ने के कारण मैं शनिवार वाडा, लालमहाल, रास्ता पेठ, सदाशिव पेठ आदि से भी परिचित था। जिस दिन मैं 'महाराष्ट्र एक्सप्रेस' से पुणे पहुँचा, यहाँ की भीड़-भाड़ को देखकर चकरा गया। मन में एक डर यह भी था कि क्या यहाँ मेरी निभेगी भी?

यहाँ आने के बाद पहले छह महीने मैं पुणे विश्वविद्यालय के परिसर के अंदर ही रहा। बाहर निकला ही नहीं। धीरे-धीरे मैं इस शहर से परिचित होने लगा। यूनिवर्सिटी के नजदीक ही छोटी पहाड़ी पर माता चतुःश्रृंगी का मंदिर स्थापित है। करीब हर सप्ताह मैं माता के दर्शन करने जाता था। पहाड़ी के शिखर से पुणे परिसर का लुभावना दर्शन मन को मोह लेता था। यदि किसी दिन अनमनापन महसूस हो जाता, तब मैं किसी को साथ लेकर माता के दर्शन करने पहाड़ी पर निकल जाता। नवरात्रि के त्योहार पर माता के परिसर में बहुत बड़ा मेला लगता था। गाँव-खेड़ों से लोग माता के दर्शन हेतु यहाँ आया करते।

सेनापती बापट रोड, डेक्कन जिमखाना, जंगली महाराज रोड, लक्ष्मी रोड आदि भागों में हमारा कभी-कभार जाना होता था। यहाँ प्रत्येक परिसर की अपनी एक छटा अवश्य है। फार्युसन रोड पर दिखाई देनेवाले चेहरे सहसा पश्चिमी आचारों विचारोंवाले रंग के प्रतीत होते। विशेष तौर पर उनके वार्त्तालाप की भाषा अंग्रेजी ही होती। महानगर-निगम के बस अड्डे का परिसर तथा पुणे स्टेशन का आहाता, गाँव से आए यात्रियों की वजह से बिल्कुल अपना-सा लगता और पुणे की खास सदाशिव पेठ में पुरातन पुणे की झलक दिखाई देती थी। मैं भले ही पुणे में रहता था, परंतु इस शहर का सही परिचय तो यहाँ के स्थानीय अखबार ही करवाते थे। यदि किसी दोस्त का जन्मदिन मनाना होता तो हम सभी मिलकर डेक्कन जिमखाना अथवा जंगली महाराज रोड पर निकल जाते और वहाँ से पैदल यूनिवर्सिटी लौटते। दिन-प्रतिदिन पुणे पूरी गति से बदल रहा था। पुणे को 'इकानॉमिक बूम' की हवा लग रही थी और

वहाँ की खास मराठी सभ्यता का लोप होना आरंभ हो गया था। अब तो पुणे आश्चर्यजनक तरीके से बदल गया है।

पुणे विश्वविद्यालय के मनोहारी परिसर में मेरे जीवन का नया अध्याय शुरू हो गया। यहाँ का वातावरण पढ़ाई में स्फूर्ति बढ़ाने में सहायक था। शुरू के कुछ दिन वहाँ के परिसर की शोभायमान घनी झाड़ी में अपना विभाग मुख्य इमारत तथा भोजनालय के खोजने में ही निकल गए। राष्ट्रीय स्तर के ख्यातिप्राप्त, अत्यंत बुद्धिमान गुरुजनों की वजह से हमारे संख्याशास्त्र विभाग की गरिमा बढ़ी थी। अब तक सिर्फ उनके नामों से ही मैं परिचित था, परंतु मेरा अहोभाग्य कि उनके सान्निध्य में रहकर जान गया कि यहाँ हर तरह से कसौटी पर खरा उतरना होगा।

धीरे-धीरे मेरी प्रत्येक समस्या का हल मुझे मिलने लगा। छात्रावास में प्रवेश मिल गया। 'कमाओ और पढ़ो' नामक योजना में मैं चुन लिया गया। दो महीनों के बाद 'नेशनल बोर्ड ऑफ हायर मैथमैटिक्स' द्वारा बहाल छात्रवृत्ति, जो अणुशक्ति विभाग की ओर से दी जाती है, में मेरा चयन हो गया। मुझे प्रतिमाह एक हजार मिलने की व्यवस्था हो गई। इन तमाम अच्छी घटनाओं पर मुझे विश्वास ही नहीं हो रहा था। शिक्षा से संबंधित तमाम समस्याओं का अंत ही हो गया। इस छात्रवृत्ति की एकमात्र शर्त यही थी कि प्रत्येक सेमिस्टर (सत्र) में छात्र की उन्नति एवं पात्रता को देखकर ही उसे आगे जारी रखा जाएगा। इसलिए पढ़ाई पर पूरा-पूरा ध्यान केंद्रित करना मेरे लिए अनिवार्य ही था।

आचार-विचार एवं व्यवहार कुशलता में पुणे वाकई अग्रणी शहर है और सभी इसे मानते भी हैं। यहाँ की शैक्षिक क्षेत्र की प्रगति, सामाजिक सोच, नए विचारों के अनुसरण की पद्धति को देखकर बार-बार मन में विचार आता था कि हम (यानी मैं) कितने पिछड़े हुए हैं! मैं इस कमी को पूरा करने का प्रयास करने लगा। छात्रावास का जीवन, वहाँ की समस्याएँ, छात्रों का आपसी व्यवहार, लड़के-लड़कियों के आपसी संबंधों आदि के बारे में मेरी जानकारी बढ़ रही थी। विश्वविद्यालय में बहुत सीमित छात्रों को छात्रावास में प्रवेश मिलता है, अतः अधिकांश छात्रगण इन छात्रावासों में 'परजीवी' (परासाइट) के तौर पर बसते थे। कुल अनुज्ञाप्राप्त छात्रों से तिगुनी संख्या में इन बाहरी छात्रों का समावेश (अनधिकृत तौर पर) छात्रावास में होता था।

मेरे कमरे में भी एक 'पैरासाइट' था, जिसे हम प्यार से 'पैरा' कहते थे। कई बार वह परजीवी जीव, मूल जजमान जीवों से अधिक बुद्धिमान एवं कार्यक्षम सिद्ध होते थे। किसी एक विभाग के तमाम छात्रावासी विद्यार्थीगण आपस में मिल-जुलकर रहते थे। मुझे शुरूआती दिनों में जुनैद नामक एक छात्रावासी ने खूब मदद की। मैं उसकी साइकिल, उसका कमरा, उसके कपड़े और कभी-कभी सिर पर मलने का तेल भी इस्तेमाल कर लिया करता था। जुनैद एक सीनियर छात्र था।

छात्रावासों की कमी होने की वजह से प्रत्येक विभाग के तीन अथवा चार छात्रों को छात्रावास में कमरा मिलता था। मेरे भाग्य अच्छे थे, अतः मुझे एक कमरा मिल गया था। प्रत्येक विभाग के फिर बाकी बचे छात्र पैरासाइट के तौर पर इन्हीं कमरों में समा जाते थे। जिसके नाम पर कमरा है, उसे एक पलंग नसीब होता था और बाकी के सभी जमीन पर अपने बिस्तर लगाकर जैसे-तैसे गुजारा कर लेते थे। मेरे पड़ोस के कमरे में मेरे ही विभाग का छात्र सतीश कुलकर्णी पिछले चार वर्षों से 'पैरासाइट' के तौर पर रह रहा था। हर साल कमरे का मालिक बदलता रहा, परंतु यह उसी कमरे में बना रहा। इन बाहरी छात्रों में कुछ विद्यार्थीगण एम.पी.एस.सी. एवं यू.पी.एस.सी. की तैयारी के लिए आते। कोई अपने दोस्त के यहाँ गाँव से आता था नौकरी की खोज में। सभी जरूरत के मारे होते थे। कभी-कभी 'पैरासाइट' तथा मूल मालिक के बीच चाय, होटल अथवा शराब के पैसे देने काई इकरारनामा (अलिखित) भी होता था।

छात्रावास एक ऐसी अजीब जगह है जहाँ हमेशा आने-जानेवालों का ताँता लगा रहता है। चौबीसों घंटे गहमा-गहमी लगी रहती है। इसका मुख्य कारण यह है कि वहाँ आने-जानेवालों पर कोई पाबंदी नहीं होती। कोई किसी से मिलने, खेलों में हिस्सा लेने अथवा किन्हीं अन्य कारणों से आते-जाते रहते थे। कई कमरों में पूरी रात 'रतजगा' रहता, तो कई कमरों में छात्र सुबह-सुबह जाग जाते। पहले वर्ष, छात्रावास में प्रवेश देते समय दो अथवा तीन विभिन्न विभागों के छात्रों को एक ही कमरा दिया जाता है। इसमें बड़े मजे की बात यह होती थी कि अलग-अलग विभागों के मजेदार किस्से सहज रूप से यहाँ से वहाँ पहुँच ही जाते। रात में अधिकतर कमरों में गपशप की महफिल जम जाती, तब हँसी-मजाक बड़े जोर-शोर से होता था।

सुबह नहाने के लिए गरम पानी के लिए बॉयलर के पास भीड़ जमा हो जाती। छात्रावास की प्रत्येक मंजिल पर सिर्फ दो बॉयलर उपलब्ध होते थे। बाल्टियों को कतार में लगाना पड़ता था। अपना नंबर जल्दी लगे, इसलिए कुछ छात्र आधी रात में ही अपनी बालटी नल के नीचे रख आते और अपना हक जताते। फिर शाब्दिक युद्ध तो तय है ही। कुछ पहलवान किस्म के छात्र निडर होकर दूसरे की बालटी को हटाकर वहीं डटे रहते और गरम पानी ले जाते।

मुझे एक नंबर के छात्रावास में कमरा मिला था। लड़कियों के छात्रावास की ओर जानेवाला मार्ग हमारे छात्रावास से होकर जाता था। हमारे छात्रावास के आगे किसी के इंतजार में रेंगती लड़कियाँ तथा लड़कियों के छात्रावास के बाहर रेंगते लड़के हमारी चर्चा का विषय होते थे। लड़कियों के छात्रावास के नियम कड़े थे। सिक्सोरिटी गार्ड से कहकर किसी लड़की को बाहर बुलवाया जा सकता था। छात्रावास के आस-पास कई प्रेमी युगल दिखाई देते थे। छात्रावास में यह हमेशा चर्चा का विषय रहा करता था। ओपन कैटीन, एलिस गार्डन अथवा झाड़ी में बैठे युगलों को छात्रावास में निशाना बनाया जाता था।

क्रिसमस, नया वर्ष, गणेशोत्सव, होली आदि त्योहारों पर होस्टल में बड़ी धूम मची रहती थी। भारत-पाकिस्तान के बीच जब क्रिकेट की मैच होती, छात्रावास में छात्रों की भीड़ टी.वी. के सामने लग जाती। चौके, छक्के लगने पर इतना शोर होता कि आस-पास के परिसर में दूर तक वह पहुँच जाता। एक किस्सा याद आ रहा है, भारत-पाकिस्तान का मैच चल रहा था। मेरे साथ देवेंद्र नामक एक मजबूत काठी का सहपाठी था मेरे विभाग में। हम सभी मैच देख रहे थे। देवेंद्र बेंच पर बैठा था। कुछ समय के बाद वह बाहर निकल गया और मैं उस खाली जगह पर जा बैठा। कुछ समय के बाद वह लौटा और अपनी जगह से उठने के लिए मुझे धमकाने लगा। वैसे भी हम दोनों की आपस में बनती न थी। वह बड़ा ही अकडू और अपनी शेखी बघारनेवाला लड़का था, जिसकी दाल हमारे आगे गलती न थी। हर बार वह मुँह की खाता था इसलिए हम दोनों के बीच 'खुन्नस' थी। मुझे धमकाकर वह पुराना हिसाब चुकाना चाहता था, अतः उसने मेरी कॉलर पकड़ी और मुझे एक झापड़ रसीद कर दिया। मैं भी तैश में आ गया और उसे तीन-चार तमाचे मैंने भी जड़ दिए। सारा माहौल गरम हो गया। इस घटना के चर्चे हमारे विभाग में भी हुए। अंत तक हम दोनों के बीच अनबन बनी रही।

बीच-बीच में छात्रावास के कमरों की जाँच होती थी, जिसकी वजह से 'पैरासाइट' छात्रों की परेशानी बढ़ जाती थी। अधिकांश समय इसकी भनक पहले ही लग जाती थी, अतः जाँच से पहले ही सारे कमरे तरतीब से रखे पाए जाते थे। कभी-कभी अफवाह भी होती थी, तब बेचारे 'पैरासाइट' छात्रों का सारा दिन व्यर्थ हो जाता। कभी-कभी इस काररवाई के प्रति पूरी गुप्तता बरती जाती और 'मेहमान छात्रों' को पकड़ लिया जाता और जिस छात्र के नाम पर कमरा है, उसे जुरमाना भी होता। छात्रावास के दिन वाकई सुनहरे दिन थे। आज भी मन करता है कि वे दिन जीवन में दोबारा लौट आएँ!

मेरी नौकरी लगने से पहले मैंने कभी भी शर्ट अथवा पतलून नहीं खरीदी, क्योंकि मेरे लिए वह मुमकिन था नहीं। दोस्तों के, रिश्तेदारों के कपड़ों पर वे दिन निभ गए। दूसरों के कपड़ों का जुगाड़ मुझे राहत और खुशी प्रदान करता था। धूलिया में संग्राम के, ओझर में मामा के लड़कों के कपड़े और पुणे में जुनैद के कपड़ों को इस्तेमाल किया मैंने। कभी-कभी अपनी बेबसी का दुःख भी होता था, परंतु इसके अलावा कोई चारा भी न था। अपने मन को मैं समझा लेता था कि 'तुम यह काम चोरी-छिपे नहीं कर रहे हो! ये दिन भी गुजर जाएँगे।'

बारहवीं के बाद संग्राम ने पुणे के बी.जे. मेडिकल महाविद्यालय में प्रवेश ले लिया और मैं नासिक चला गया। हमारे रास्ते बदल गए परंतु पत्रों द्वारा हमारा संपर्क निरंतर बना रहा था। पुणे में संग्राम के स्वभाव में, जीवन में बदलाव आने लगा। वहाँ वह 'नूपुर' से प्रेम करने लगा। नूपुर एक सरल और समझदार लड़की थी। उसका साथ मिलने पर संग्राम विचारवान बनता गया। नूपुर की सच्ची

सीधी और शुद्ध विचारशैली ने संग्राम के स्वभाव और आचरण को भी शुद्ध बना दिया था। वैसे भी संग्राम ने जीवन में समाज सेवा करने की बात को ठान लिया था और नूपुर का इसमें पूरा समर्थन भी था। ग्रेजुएशन के बाद मैं भी पुणे में आ गया था। संग्राम, नूपुर के साथ पुणे यूनिवर्सिटी में आ जाता था अथवा मैं बी.जे. चला जाता था। उन दोनों के साथ कैंटीन में अथवा चतुःशृंगी माता की पहाड़ी पर हमारे बीच चर्चाएँ होती थीं। उन दोनों की वजह से मेरा परिचय वैद्यकशास्त्र से भी हो रहा था। अपने भविष्य की चर्चा भी मैं उन दोनों के साथ करता था, अतः उसी समय मैंने तय कर लिया था कि मुझे आई.ए.एस. करना ही है।

उन दोनों के आपसी स्नेह की वजह से उनके जीवन में एक बड़ा तूफान ही आ गया। संग्राम के घर से उनके अंतर्जातीय विवाह के प्रस्ताव का कड़ा विरोध था। नूपुर से संबंध तोड़ने के लिए उसके घर से दबाव भी बढ़ रहा था। इन तमाम परेशानियों को देखते हुए कोई बखेड़ा खड़ा न हो, इसलिए संग्राम और नूपुर ने रजिस्टर पद्धति से विवाह करने का निर्णय कर लिया। इसका मैंने समर्थन किया। आज भी वह दिन मेरे स्मरण में है। पुणे के शनिवार पेठ में कोर्ट था। हम तीनों उस दिन सुबह ही कोर्ट में जा पहुँचे। वैसे हम लोग जीवन में पहली बार किसी कोर्ट में गए थे। वहाँ भी भीड़ थी। काम करवानेवालों की कतार भी थी। हमारा नंबर आते ही हमें अंदर बुलवाया गया। हम तीनों ने हस्ताक्षर कर दिए। तुरंत वे दोनों पति-पत्नी हो गए और उनके विवाह का मैं एकमात्र गवाह! इसके बाद पूरे एक साल तक इस खबर को गुप्त रखा गया। इन दिनों उनकी अपने भविष्य के प्रति जो चर्चा चला करती उसमें मैं प्रमुख भागीदार हुआ करता था। उन दोनों ने तय कर लिया था कि सेवाभाव के सिद्धांत पर किसी छोटे से कस्बे में, छोटा अस्पताल खोलना है। समय के चलते उनका यह सपना भी सच में बदल गया। एरंडोल में 'बाबा आमटे मल्टी स्पेशलिस्ट अस्पताल' के स्थापित होने का मुझे गर्व है।

आदरणीय बाबा आमटे, डॉ. अभय बंग, रानी बंग, जैसे महान् समाजसेवकों के सान्निध्य कुछ दिनों रहने के बाद संग्राम, नूपुर को मार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगा। वे दोनों इंग्लैंड चले गए। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए धन जमा किया। अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाते हुए अपना निर्णय भी पक्का किया। इसी दौरान वे दोनों दो पुत्रों के माता-पिता भी बने। अपनी पूरी तैयारी के साथ वे अपने मूल ग्रामीण विभाग में लौट आए हैं। दुर्गम ग्रामीण इलाके में अत्यल्प शुल्क में वहाँ की जनता को आरोग्य सुविधाओं की आपूर्ति का सपना उन्होंने सँजोया। अत्याधुनिक आरोग्य सेवाओं का बीड़ा उन्होंने उठाया है। मेरी संग्राम के साथ वैचारिक स्तर की भावनाएँ व विचार समान हैं, इसीलिए आज भी हम दोनों की गाढ़ी दोस्ती है। आज भी हमारा आपसी विचार-विनिमय का सिलसिला जारी है।

अब मैं अपने जीवन का एक और किस्सा बयान करता हूँ। पुणे में जल्दी ही हमारा भी एक ग्रुप तैयार हो गया। नासिक से आई स्मिता और भावना, इंदौर की पूर्वा, दिल्ली से सुभाश, नासिक का जलील, जमशेदपुर की मीनाक्षी और सुवर्णा इस ग्रुप में थे। हँसते-खेलते पहला सत्र कब बीत गया, पता ही नहीं चला। शहर से आए इन लड़के-लड़कियों की फरटिदार अंग्रेजी बोलने की पद्धति, उनके विचारों का तरीका मुझे बड़ा आकर्षक लगता। इतने बढ़िया माहौल में भी मैं कभी-कभी अपने आपको बिल्कुल अकेला महसूस करता। चाहे वह कोई दावत हो अथवा सैर का प्लान, एकाकीपन और अस्वस्थता मेरा पीछा नहीं छोड़ती थी। मुझे बार-बार ऐसा लगता था कि सैर-सपाटा, मौज-मस्ती, मनोरंजन जैसी बातें मेरे लिए बनी ही नहीं हैं। कभी-कभी आधे सिनेमा में घर लौट जाने का मन करता। अपराध की भावना मन में जाग जाती। मैं अपने खर्च का हिसाब लगाने लगता। जिस सिनेमा के मनोरंजन में मैंने बीस रुपये खर्च किए हैं, उतने पैसे कमाने के लिए मेरी माँ किसी के खेत में सारा दिन खटती है, यह विचार मन में टीस पैदा कर देता। मेरा मन खिन्न हो जाता।

प्रथम वर्ष के आरंभिक दिनों की बात है। मेरा मन कहीं और भटकने लगा था। नियमित रूप से अपने आपको पढ़ाई में व्यस्त रखनेवाला 'मैं' अब किसी के खयालों में खोने लगा। एक सुंदर लड़की मुझे अच्छी लगने लगी थी। मैं अलग दुनिया में खो गया। निरंतर उसी का विचार मन को घेरे रहता। पढ़ाई से मन उचटने लगा। अन्य सारी समस्याएँ मुझे नगण्य लगने लगीं। मेरे दोस्तों से मेरी यह स्थिति छिप न सकी। फिर एक दिन दोस्तों को सारा कुछ बतलाना पड़ा। सभी का यह मत रहा कि मुझे उस लड़की से खुले मन से बात कह देनी चाहिए। फिर एक दिन मेरे दोस्तों ने यानी 'चांडाल चौकड़ी' ने ओपन कैंटीन की जगह चुनी और उसी शाम उसे वहाँ आमंत्रित किया।

मेरा वह सारा दिन बड़ी बेचैनी में बीता। बार-बार मन में सवाल उठते रहे कि वह क्या सोचेगी? वह क्या कहेगी? यदि उसने ऐसी शुरुआत की तो मैं ऐसा जवाब दूँगा, यही मैं मन-ही-मन दोहराता रहा। दिल की धड़कन तेज हो गई थी। एक-एक पल मेरे लिए भारी हो रहा था। समय कटते न कट रहा था। दोपहर बीत गई थी। शाम होने लगी और मेरे कदम कैंटीन की ओर बढ़ने लगे।

जितनी सादगी और सरलता से मैं विचार करता हूँ, दुनिया नहीं करती है, इस बात का अनुभव मुझे उससे मिलने पर तुरंत हो गया। सबकुछ जानते हुए भी वह अनजान बने रहने का नाटक करती रही। इसकी भी कोई सीमा होती है! अंत में मैंने अपनी भावना प्रकट कर दी। वह मुसकराई। उसके चेहरे के भाव बता रहे थे कि यह अच्छा मजाक है। अनभिज्ञता के भाव को दर्शाते हुए उसने कहा, "इस नजरिए से तो मैंने तुम्हें कभी देखा ही नहीं! तुम्हारी, मेरी जाति भी भिन्न है। तुम्हें तो नौकरी भी नहीं है!" बिना झिझक, बिना अटके उसने यह सब स्पष्ट रूप में कह डाला। उसकी प्रत्येक दलील मुझे जलते अंगारों सी लगी। अंत में

मुझे स्पष्ट रूप से कोई जवाब दिए बगैर उसने सोचने के लिए मुझसे समय माँग लिया।

अपनी भावना प्रकट करने के बाद मेरा मन कुछ हलका हो गया। उसके विचार मन से जाते न थे। दिन में चाँदनी देखने की मेरी पागल आशा लंबे समय तक बनी रही। मैं उसके जवाब का इंतजार करता रहा। उस समय मैं इतना बुद्धि था कि उसके उस दिन के जवाब से मुझे असलियत समझ लेनी चाहिए थी, परंतु ऐसा नहीं हुआ और और मेरा एकतरफा प्रेम का प्रसंग मेरे विभाग में मजाक बनकर फैल गया। इस सब का बुरा असर मेरे मन व स्वास्थ्य पर पड़ा। हमारे विभाग के ही एक छात्र को इसी प्रकार के हादसे से गुजरने पर अपनी छात्रवृत्ति से हाथ धोने पड़े थे। इसे जानकर मुझे भी मेरा भविष्य अंधकारमय दिखाई देने लगा, परंतु हर स्थिति का एक अंत अवश्य है। उसकी भी एक सीमा है। एक परीक्षा भी है। इसी प्रकार की एक परीक्षा का मुझे निकट भविष्य में सामना करना पड़ा—

बात यों हुई कि किसी कारणवश मुझे अपने घर ताड़े जाना पड़ा। घर की अत्यंत दयनीय अवस्था देखकर मुझे अपने आप पर शर्म आने लगी। सिर्फ अपने ही स्वार्थ की, अपनी ही खुशी की बात की सोच पर मेरा मन मुझसे बगावत कर उठा—‘कहाँ की लड़की? कैसी लड़की? अरे, जिसे छह महीने पहले तक तुम जानते भी न थे, उस पर अपना भविष्य दाँव पर लगा रहे हो? अपने आप पर नियंत्रण रखना है और अपनी जिम्मेदारियों को निभाना ही है’। घर पर मैं और दो दिन रुक गया। जब मैं पुणे लौटा, मुझ में काफी बदलाव आ गया था। जल्दी ही मैं उस दुष्टचक्र से मुक्त हो गया। यदि मन में बेचैनी बढ़ जाती तो माता चतुःश्रृंगी के दर्शन कर लेता अथवा संग्राम के साथ समय बिताता।

विगत जीवन के उस कालखंड पर अब मैं जब सोचता हूँ, मुझे अपने आप पर हँसी आती है। जिस लड़की की वजह से मैं दिन-रात बेचैन रहता था, अब भूलकर भी उसका खयाल मन में आता नहीं है। शायद जीवनचक्र का यही नियम है। समय ही सबसे बड़ी दवा होती है। समय के साथ मनुष्य के विचार, जीवन की प्राथमिकताएँ बदलती रहती हैं और वह आगे बढ़ता रहता है। उस समय का वह ‘प्रेम’ एक सत्य था और उसके बाद चुनी जीवन की राह के प्रति भी मन में कोई आशंका नहीं, परंतु... परंतु उस घटना ने मेरे विचारों को पूरी तरह से बदल डाला। मैं कठोर हो गया। ध्येयनिष्ठ भी हो गया। मेरे मन की चंचलता का लोप हो गया। मुझे तीव्रता से इस बात का भान आया कि जीवन में विविध आयाम भी होते हैं। किसी ‘एक’ के पीछे जीवन बरबाद करने से कहीं बेहतर यह है कि अपना स्नेह, परिश्रम तथा सेवा यदि जरूरतमंद लोगों को समर्पित की जाए तो जीवन सार्थक होगा। जीवन की उस घटना के बाद शुरु में मुझे उस पर बड़ा क्रोध आया। चिढ़ भी आई और अंत में मेरी भावना अपनेपन में बदल गई।

उसके विवाह के निमंत्रण पत्र के साथ ही इस इकतरफा प्रेम कहानी का सदा के लिए अंत हो गया।

अब मैं और अधिक अंतराभिमुख होता गया। मुझमें कहीं कोई खामी है, कमी है, यही विचार मन को छलने लगा। मेरे आस-पास के लोग मुझे क्या कहेंगे, इस विचार को मैंने त्याग दिया। प्रेम-भंग ने मेरे विचारों की दिशा ही बदल डाली। मेरी चंचलता धुल गई। मानसिक तौर पर मैं दृढ़ और निर्भय होता गया। मेरे मन में एक ध्येय की किरण जागी और जीवन में कुछ अच्छा, बेजोड़ करने की ईर्ष्या मन में जागी। मन-ही-मन ठान लिया कि अब रुकना नहीं है, अपने लक्ष्य की ओर निरंतर बढ़ते रहता है।

मेरी मझली बहन ऊषा चुस्त और बुद्धिमान लड़की है। उसका रूप और व्यवहार भी बड़ा आकर्षक है, परंतु अत्यधिक गरीबी के बोझ तले उसकी शिक्षा ठीक से नहीं हो पाई। नवीं कक्षा तक हमेशा अपनी कक्षा में अव्वल आनेवाली मेरी बहन को पैसों के अभाव में दसवीं से पहले ही स्कूल छोड़ना पड़ा था। पुणे की मेरी पढ़ाई के दौरान खबर आई कि उसकी उम्र के सोलहवें वर्ष में ही उसका विवाह तय कर दिया गया है। सभी रिश्तेदारों ने माँ-पिताजी को सलाह दी कि यदि समय से उसका विवाह कर दोगे तो खर्चा कम आएगा। विवाह के समय जब मैं वहाँ पहुँचा, मुझे तब पता चला कि अपनी सामर्थ्य से अधिक दहेज देकर ताई-अन्ना ने यह विवाह तय किया है। पिछला कर्ज अभी बाकी था, अतः विवाह के लिए खेत अथवा मकान बेचना अनिवार्य था। इन दोनों में से कुछ भी बेचना संभव था नहीं। खूब विचार करने पर उन दोनों ने तय कर लिया था कि घर को रेहन रखकर कर्ज लेना है। इसके पीछे मुख्य विचार यह था कि यदि खेत बिक जाता है तो कल को खाएँगे क्या? यदि कर्ज की रकम पूरी कर पाए तो मकान छुड़वा लिया जा सकता है और यदि ऐसा न कर पाए तो कहीं किराए से रह लेंगे। आस-पास के 'गीदड़' खेत पर नजर गड़ाए बैठे थे। वे जानते थे कि गिरवी रखा खेत अन्ना छुड़वाने से रहे। उनकी इतनी हैसियत तो है नहीं। इसलिए वे एक चाल चल रहे थे। मकान न खुद गिरवी रखने को तैयार और न ही वे किसी को रखने दे रहे थे। वे सिर्फ अन्ना का खेत निगलने का मंसूबा बनाए हुए थे। बड़ी मुश्किलों से एक साहूकार ने तीन साल की बोली पर घर गिरवी रख लिया और विवाह के लिए पच्चीस हजार रुपए दिए।

ऊषा का विवाह हो गया। उम्र सिर्फ सोलह वर्ष। मेरी बुद्धिमान बहन के ससुराल के सभी लोग अनपढ़ थे। उस बेचारी की तमाम आशाओं, उम्मीदों पर पानी फिर गया। उस माहौल में मेरी बेचारी बहन समय से पहले ही प्रौढ़ा बन गई। बड़ा दुःख होता रहा मुझे उसकी इस हालत पर।

इस विवाह में मैं कितनी सारी बातों से अनभिज्ञ था! पता चलने पर मेरे मन को ठेस पहुँची। बहन के प्रति मन पीड़ा से भर गया। मुझे लगा कि मेरी धमनियों में बहता खून जल गया है। ग्रेजुएट की डिग्री हासिल कर लेने के बाद भी मैं

कुछ कमाई नहीं कर रहा हूँ। अपने परिवार के लिए अपनी बहन के लिए कुछ न कर पाने की मुझे शर्म आ रही थी। ताई-अन्ना ने इस विवाह की मदद के लिए तमाम रिश्तेदारों के आगे झोली फैलाई, परंतु उन्हें एक पाई की मदद न मिली। उन दोनों के उदास चेहरों को देखकर मेरा कलेजा मुँह को आ जाता था। ऊषा का विवाह हो गया और मैं भारी मन से पुणे लौट आया।

पुणे का पहला वर्ष बड़ा ही गहमागहमी में बीता। एक ओर मुझे मेरे परिवार की चिंता सता रही थी तो दूसरी ओर उज्ज्वल भविष्य के नए नए आह्वान मेरे सम्मुख खड़े थे। मन की अवस्था दोलायमान हो रही थी। मुझे उज्ज्वल भविष्य के लिए कौन सा कदम उठाना है? किस दिशा में आगे बढ़ना है और लक्ष्य-प्राप्ति के लिए क्या करना जरूरी है? अभी मैं क्या कर रहा हूँ? आदि सवाल मुझे परेशान कर रहे थे।

फिर धीरे-धीरे लगा कि मुझे दिशा मिल रही है। संख्याशास्त्र विभाग में उच्च शिक्षा तथा अनुसंधान की परंपरा चलती चली आ रही थी, परंतु मेरा रुझान धीरे-धीरे बदल रहा था। बरसों किसी विषय पर अनुसंधान करते हुए विभिन्न देशों में 'पेपर' प्रस्तुत करने के बजाय जीवन से संबंधित समस्याएँ मुझे कहीं अधिक आह्वानात्मक प्रतीत होने लगी थीं। संख्याशास्त्र के विविध प्रमेयों एवं सिद्धांतों से भी महत्वपूर्ण बात महसूस हो रही थी मुझे लोगों के रोजमर्रा के जीवन से संबंधित समस्याओं के निराकरण की! मेरे परिवार में उपजी समस्याओं का समाधान मैं अपनी पढ़ाई में खोज न पा रहा था और मुझसे जुड़ा मेरा हर 'अपना' मेरी ओर बड़ी आस से देख रहा है, इसका भान भी मुझे था।

पुणे-मुंबई जैसे शहरों की परिस्थिति सर्वथा भिन्न थी। 'इकॉनॉमिक बूम' की लहर चलने लगी थी। प्राइवेट क्षेत्रों में, खास तौर पर आई.टी. (इंफरमेशन टेक्नोलॉजी) के क्षेत्र में बड़े पैमाने पर अवसर उपलब्ध होने लगे थे। मध्य वर्ग की तरुणाई को बहुत बड़े वेतनों का अवसर मिल रहा था। मेरे आस-पास के सभी लोग इसी 'बूम' में शामिल होने की तैयारी में लगे थे। बहुत सारे लोग पहले ही शामिल हो गए थे। इस माहौल में मेरा दम घुटने लगा था, क्योंकि मेरी समस्या मात्र आर्थिक समस्या न होकर समूचे जीवन से संबंधित थी। आर्थिक कठिनाइयों से छुटकारा पाने के लिए 'इकॉनॉमिक बूम' एक अच्छा समाधान था, जो मेरे निकट भविष्य से जुड़ा हुआ था, परंतु मेरा मानसिक, आंतरिक गठन सर्वथा भिन्न था। महात्मा फुले, स्वामी विवेकानंद और महात्मा गांधीजी के विचारों का गहरा असर मेरे मन मस्तिष्क पर बचपन से रहा है। निकट भविष्य की अस्थायी मरहम-पट्टी में मुझे कोई रस नहीं था। किसी बहुत बड़ी कंपनी में, मोटे वेतन पर काम करना और विदेश निकल जाना तो मुझे मंजूर ही न था। जिन विचारों के साथ मैं पला-बढ़ा, जिन विचारों ने मुझे जीने का बल दिया, वे विचार, जीवन के तमाम अनुभव तथा समाज से संलग्न रहकर कुछ ठोस कार्य समाज के लिए ही करना है, यह मेरा विचार पक्का हो गया था। सिर्फ सवाल

यह था कि इसे कैसे साध्य किया जाए? जल्दी ही मुझे इन समस्याओं से पार पाने का तरीका समझ में आ गया और मुझे वह मार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगा।

आम लोगों के लिए कुछ काम करने के तीन मार्ग मुझे सूझ रहे थे—राजनीति, प्रशासन तथा स्वयंसेवी संस्थान। राजनीति के सर्वांगीण अवलोकन के पश्चात् मैंने महसूस किया कि यह मार्ग मेरे लिए कठिन है। इस मार्ग पर अग्रसर होने के लिए पैसा, काम के गलत तरीके तथा गुंडागर्दी अधिक महत्वपूर्ण साबित होते हैं। बिलकुल छोटे से पद के लिए (जैसे सरपंच आदि) लाखों रुपए खर्च करनेवाले लोगों को मैं देख रहा था। इच्छित पद प्राप्त हो जाने पर आचार संहिता को ताक पर रखकर दुगुना-तिगुना पैसा जोड़ने का एकमात्र कार्य करनेवालों को भी मैं देख रहा था। नैतिकता की बाँह थामकर सेवाभाव से काम करनेवाले सच्चे राजनायकों की बरबादी भी मुझसे छिपी न थी। जिस व्यक्ति के पास जीवनयापन का कोई साधन उपलब्ध नहीं है और फिर भी वह निस्स्वार्थ भावना से राजनीति के अखाड़े में उतरता है तब उसके हिस्से अवहेलना और निराशा ही आती है, इसीलिए मुझे यह मार्ग कठिन लगा; परंतु एक सत्य यह भी कि यदि समाज की सर्वांगीण उन्नति करनी है, तब राजनीति से बेहतर और कोई दूसरा मार्ग भी नहीं है।

स्वयंसेवी संस्थानों के प्रति मेरे मन में नितांत आदर एवं आकर्षण रहा है। वहाँ निस्स्वार्थ भाव से, सेवाभाव से अखंड जनसेवा की जा सकती है, ऐसा मेरा मानना था। मेरा एक दोस्त अशोक पिंगले एक सेवाभावी संस्थान में पूरे मनोयोग से कार्यरत है। अपने अच्छे 'करियर' की दृष्टि से जब मैंने इस मुद्दे पर खूब विचार किया, तब इस कार्य में कुछ तुलनात्मक त्रुटियों मेरे ध्यान में आईं।

एक बात सबसे महत्वपूर्ण महसूस हुई कि औरों के लिए काम करने से पहले मुझे अपने परिवार के उत्थान का काम करना जरूरी है। स्वयंसेवी संस्थानों के माध्यम से जिन बातों को हम लोगों के सामने रखने जा रहे हैं, उन्हें प्रथम स्वयं के लिए कार्यान्वित करना परम आवश्यक लगा मुझे। इन संस्थानों के कार्य एवं क्षमता की भी एक निश्चित सीमा है। अधिकतर संस्थानों में मैंने पाया कि वे संस्थान तथा उनमें कार्यरत लोग आर्थिक लाभ के अर्जित करने में लगे हैं। अतः स्वयंसेवी संस्थान में काम करने का विचार भी पीछे छूट गया। फिर भी मन में उपजी एकाध कल्पना को कार्यान्वित करने हेतु, अथवा किसी समस्या के समाधान हेतु सेवाभाव से सहायक होने के लिए, सेवाभावी संस्थान से बढ़कर दूसरा कोई विकल्प नहीं है, इसे भी मैं अच्छी तरह से समझ गया था। इसके लिए डॉ. अभय बंगजी के 'सर्च' नामक सेवाभावी संस्थान का प्रभावी उदाहरण मेरी आँखों के सामने था।

अब तीसरा और अंतिम विकल्प बचता है प्रशासन। प्रशासकीय नौकरी कर लेने की बात मेरे मन में बहुत पहले से रही थी। परंतु मन का पक्का निर्णय नहीं

हो पा रहा था। विभिन्न मार्ग को ठीक से जाना न था, अतः अन्य सभी मार्गों को त्यागकर मैं प्रशासन के मार्ग पर निकल पड़ा।

बचपन से मेरा पाला पटवारी, तहसीलदार, बीडीओ जैसे लोगों से पड़ता रहा। मेरी समझ बढ़ जाने पर जब भी मैं अपने आस-पास के लोगों के उद्धार की बात पर विचार करता तो मुझे प्रशासकीय यंत्रणा में अनेक त्रुटियाँ नजर आतीं, यानी उनके लागू करने की पद्धतियों में कमियाँ जान पड़तीं। तत्पर तथा लोकाभिमुख प्रशासन के माध्यम से लोगों की समस्याओं को सुलझाया जा सकता है, यह बात मेरी समझ में आ रही थी। साथ ही मेरे प्रतिदिन के निहित कामों के माध्यम से लोगों की सेवा करने का मौका भी मिल सकता था। खेती, महिला-बाल विकास, आरोग्य, शिक्षा आदि को कार्यान्वित करने के मेरे विचारों को अवसर मिलनेवाला था और सर्वाधिक मौलिक बात थी मेरे लिए अत्यधिक गरीबी, अभावों एवं सामाजिक उपेक्षाओं से ग्रस्त मेरे अपने ताई-अन्ना के जीवन को वैभवशाली बनाने की। उन्हें समस्त चिंताओं से मुक्त करवाकर उन्हें पूरा आराम देने की। अब मुझे मेरा इच्छित मार्ग दिखाई देने लगा था।

मार्ग तो तय हो गया, परंतु अपने लक्ष्य-प्राप्ति का आत्मविश्वास और तैयारी अधूरी थी मेरी। मैं पूरी लगन से सारी जानकारी जुटाने में लग गया। साथ में यह विचार भी पक्का कर लिया कि मुझे जल्द-से-जल्द नौकरी करनी होगी। साथ ही अनुसंधान करने का मानस भी था। अपने परिवार को आर्थिक मदद देना, गिरवी पड़े मकान को छुड़वाना और सबसे छोटी बहन प्रतिभा की शिक्षा का प्रबंध करना मेरा मुख्य कर्तव्य था। सारा दिन पढ़ाई करके प्रशासनिक परीक्षा देना मेरे लिए संभव था नहीं। स्नातकोत्तर पढ़ाई के बाद पुणे जैसे शहर में और एक महीना रुक जाना भी मेरे लिए नामुमकिन था।

एम.एस-सी के दूसरे वर्ष से ही मैंने नौकरी करने का इरादा पक्का कर लिया था। इसी दौरान अनुसंधान हेतु मिलनेवाली छात्रवृत्ति (NET-GR) की परीक्षा मैंने दी। व्याख्याता पात्रता की (SET) परीक्षा भी दी और साथ ही सेनादल में अफसर पद की (CDS) परीक्षा भी दी। इन सभी परीक्षाओं में मैं अच्छे नंबरों से सफल रहा। स्नातकोत्तर पढ़ाई के अंतिम सत्र से पहले ही मैं वायुसेना के पायलट ऑफिसर, अनुसंधान की छात्रवृत्ति तथा व्याख्याता के पद के लिए चुन लिया गया था। तीन-तीन अवसर मेरे हाथ में थे। सारा कुछ मनचाहा हो रहा था।

मुझे बचपन में वीरों, क्रांतिकारियों की जीवन गाथाएँ पढ़ना खूब अच्छा लगाता था। जीवन में वीरता दिखाने की प्रेरणा उनसे मिलती थी। उन दिनों मुझे सेना में भरती होने की गहरी चाह थी। देश के लिए लड़ने, प्राण-अर्पण करने की तीव्र इच्छा भी जागी थी। इसीलिए सेना में भरती होने के लिए आवश्यक जानकारी मैं इकट्ठा करने लगा। उम्र के साथ-साथ समझ बढ़ती गई और तब लगने लगा कि सैनिक बनने से बेहतर है सेना में अधिकारी बनना। धूलिया में जिस समय मेरे दोस्त इंजीनियर, डॉक्टर बनने की चाह रखते थे, मैं N.D.A. की

परीक्षा देने के लिए उत्सुक था। मैं जब इसकी परीक्षा देने गया, तब जाना कि सारे परचे अंग्रेजी में लिखने होते हैं। मैं पस्त हो गया, क्योंकि मेरी अब तक की पढ़ाई मराठी माध्यम में हुई थी। उनकी वरदी का, बंदूक, गोलियाँ आदि का आकर्षण भी कम हो गया था। सीमापार के शत्रुओं से अधिक खतरनाक जीवन की समस्याएँ प्रतीत होने लगीं मुझे। जीवन की लड़ाई का महत्व मेरी समझ में आने लगा था। सेना की नौकरी मिलने तक मेरे विचार अलग थे और अब ऐसा समय आ गया कि उस नौकरी को स्वीकारना है अथवा नहीं, यह तय नहीं हो पा रहा था। मुझे सिर्फ अपना ही विचार नहीं करना था, बल्कि सारे परिवार की जिम्मेदारी को समझना था, निभाना था। मैं गाँव गया और ताई-अन्ना से इस विषय पर बातचीत की। उनके दिए हुए जवाब से मेरा मन भर आया। उनके मतानुसार, 'जिस परिस्थिति में वे जी रहे हैं, उस हालत में वे आगे भी निभा सकते हैं। उनकी हालत को देखकर मुझे मेरी इच्छाओं, आकांक्षाओं पर पानी फेरने की जरूरत नहीं है। उनके विचार से मुझे उनकी परिस्थिति पर अधिक ध्यान देने की जरूरत नहीं है'। उनके स्नेहिल उदार विचार सुनकर मैं अवाक् रह गया। एक प्रमुख समस्या मेरी समझ में आ गई कि यदि मैं हवाई दल में काम स्वीकारता हूँ, तो आगे उसे त्यागना सर्वथा कठिन होगा। फिर प्रशासन में जाने की इच्छा को, लोगों की सेवा करने की चाह को त्यागना पड़ेगा। अंत में खूब सोच विचार कर मैंने हवाई दल की नौकरी न स्वीकारने का अंतिम निर्णय कर लिया। माता-पिता के माथे पर कर्ज का बोझ, गिरवी पड़ा मकान और पुणे लौटने के लिए टिकट के खर्च की भी परेशानी! ऐसी स्थिति में इतनी अच्छी नौकरी न स्वीकारने का निर्णय, अन्य सभी की दृष्टि में एक मूर्खता सिद्ध हो रही थी। दोस्तों की आँखों में कभी कौतुक तो कभी उपहास की भावना झलक जाती। गाँव के लोग पूछने लगे, 'अरे बापू, और कितनी पढ़ाई करोगे? पढ़-पढ़कर पागल होना है क्या? अपने माँ-बाप को कब आराम दोगे तुम? अब नौकरी-चाकरी में लग जाओ?' मुझसे कहीं अधिक ताई-अन्ना को लोगों के ताने सुनने पड़ते थे। खास तौर पर तब, जब वे उनसे पैसे लेते थे! मदद देनेवाला उनके हाथों पर पैसे रखने से पहले उपदेश अवश्य करता था, 'अन्ना, जब बिसात नहीं तो क्यों पढ़ाना लड़के को? उसकी उम्र के लड़के आज कितनी अच्छी कमाई कर रहे हैं! उसे पढ़ाने के लिए पैसा कहाँ है तुम्हारे पास? बेचारे ताई-अन्ना इस पर चुप्पी साध जाते।

मेरे मन में हजारों सवाल तूफान मचाते। क्या वाकई मुझे मेरे परिवार की फिक्र नहीं? क्या प्रशासनीय स्पर्धा परीक्षाओं में मैं कुछ कर पाऊँगा? क्या मैं आई.ए.एस. कर पाऊँगा? क्या इतनी क्षमता मुझ में है भी? अंत में मैंने अनुसंधान करने का निर्णय कर लिया और साथ ही स्पर्धा परीक्षा की तैयारी भी करने लगा। दो महीनों के अंदर 'भारतीय सांख्यिकी सेवा' का विज्ञापन आया। अन्य दोस्तों के साथ मैंने भी अर्जी भेज दी। मेरे भाग्य ने मेरा साथ दिया और मैं उसमें पास हो गया। लिखित परीक्षा के बाद मौखिक परीक्षा भी हुई और

‘लिस्ट’ में मेरा नाम भी आ गया। मुझे एक अच्छी नौकरी तो मिल गई थी, साथ ही अब इच्छित राह पर भी मेरे कदम दृढ़ता से आगे बढ़ेंगे यह विश्वास भी मुझे हो गया। सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि अब मैं अपना रेहन पड़ा मकान छुड़वाने की, ताई-अन्ना को पूर्णतया कर्ज से मुक्ति दिलवाने की स्थिति में आ गया था। आर्थिक तौर पर अब मैं स्वावलंबी भी हो गया था। अपनी बहन प्रतिभा की शिक्षा का भार वहन करने की क्षमता भी मुझमें आ गई थी।

मेरे इस नौकरी के स्वीकारने की वजह से मेरे सांख्यिकी विभाग के लोगों, यानी दोस्तों एवं अध्यापकों से बड़ी ही ठंडी प्रतिक्रिया मिली। इसका मुख्य कारण यह था कि यहाँ शायद ही कोई सरकारी नौकरी चुनता था। शायद उन्हें लगता है कि यहाँ से प्राप्त ज्ञान का, ऐसी नौकरी में क्या लाभ? परंतु मुझे यह नौकरी मेरे लक्ष्य की ओर ले जानेवाली एक सुनहरी सीढ़ी प्रतीत हो रही थी। मेरे आदरणीय राजर्षि सर तथा देशमुख मैडम ने मेरे निर्णय का समर्थन किया। बड़े भारी मन से मैं पुणे विश्वविद्यालय को त्याग पाया। इसका मुख्य कारण था— यहाँ के अध्यापकों का अपने छात्रों के साथ बना स्नेह-संबंध। किसी परिवार की तरह ही यहाँ सभी हिलमिल कर काम करते थे। इस विभाग में जब मेरा पहला कदम पड़ा, उसी पल से मेरा आत्मविश्वास बढ़ने लगा था। जीवन में मैं किसी भी क्षेत्र में उन्नति कर पाऊँगा, यह विश्वास मुझे मेरे इस विभाग ने दिया था। मेरा व्यक्तित्व उभारने में मेरा यह विभाग, मेरा सहायक रहा है। आकाश में उड़ने की क्षमता मेरे पंखों को इस विभाग ने प्रदान की है। इस विभाग को छोड़ते समय फिर एक बार अकेलापन घिर आया। दिल्ली में नौकरी के लिए जाते समय लगा कि मैं किसी दूसरे विश्व में जा रहा हूँ।

यह नौकरी मेरे परिवार तथा मेरे गाँव की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण बात थी। गाँव की आम मानसिकता यही होती है कि पढ़ाई-लिखाई व्यर्थ की बात है। पैसा और सिफारिश के बगैर कभी कोई नौकरी मिलना दूर है। यह बात उनके दिलो-दिमाग में इतनी गहरी पैठ गई है कि नौकरी हेतु पढ़े-लिखे लड़के को दहेज लेना अनिवार्य माना जाता है और वह पैसा किसी नौकरी को प्राप्त करने में ही लगाया जाता है। इस परिस्थिति का मुख्य कारण यह है कि गाँव-खेड़ों में पढ़े-लिखे बेकार बैठे युवकों की संख्या बड़ी तादाद में पाई जाती है। अधिकांश समय वे अपनी नौकरी न मिलने का दोष, पैसा न होने एवं सिफारिश भी न होने के कारणों पर थोप देते हैं। मेरे गाँववालों का पक्का विश्वास था कि मेरे अन्ना की दो बीघा जमीन में से एक बीघा जमीन मेरे नौकरी हेतु और दूसरा बीघा मेरी बहन के विवाह हेतु बिकेगा ही!

मैंने इस धारणा एवं समस्या को मात दे दी थी। मेरे ध्यान में जल्दी ही यह बात आ गई थी कि छोटी-मोटी नौकरियों के हासिल करने में जो स्थायी, गहरा भ्रष्टाचार गाँव-खेड़ों में अथवा आम महकमों में अपनी जड़ें मजबूती से फैला

चुका है, वह बात उच्चस्तरीय पदों में दिखाई नहीं देती है। अपनी क्षमता को सिद्ध करना ही यहाँ पर्याप्त होता है।

मेरे इस चुनाव से गाँव में आश्चर्य की लहर दौड़ गई! तरुणाई के बीच, गरीब किसान परिवारों के बीच यह चर्चा भी चली कि जितना हम सोचते हैं, वातावरण उतना बिगड़ा हुआ नहीं है। आज भी मेहनत तथा ईमानदारी का मूल्य बाकी है। शायद हमारे बच्चों का भविष्य भी उज्ज्वल होगा।



...और राह मिल गई!

देहात में पढ़नेवाले छात्रों की दुनिया ही अलग है। जब तक वह वास्तव से दूर है, वह सपनों में जीता है। जब एक अलग वास्तविकता से उसका पाला पड़ता है तब उसके मन को धक्का लगता है। जीवन में सर्वांगीण विकास एवं उन्नति का एकमात्र साधन ज्ञान प्राप्त करना है, इसी विचार से अमीर, गरीब, शिक्षित तथा अशिक्षित लोग अपने बच्चों को पढ़ने के लिए भेजते हैं। बच्चा स्कूल में दाखिल हो जाने के बाद माता-पिता इसी भ्रम में रहते हैं कि अब उनका दायित्व खत्म हो गया। गाँव-खेड़ों में माता-पिता की एक ही आस होती है कि अपना बच्चा कम-से-कम दसवीं पास होना चाहिए। परंतु वास्तविक परिस्थिति कुछ और ही है। गाँव में स्थापित स्कूल, अधिकतर छात्रों के लिए न रहते हुए उनके शिक्षकों के लिए ही स्थापित किए गए हैं, ऐसा दृश्य दिखाई देता है। मूलतः वहाँ शिक्षकों को पढ़ाने में कोई रुचि नहीं होती है। आस्था भी नहीं होती। उन्हें अपने ही ज्ञान पर पूरा विश्वास नहीं रहता है। अधिकांश गुरुजनों के अपने अन्य निजी व्यवसाय होते हैं। उस व्यवसाय से जुड़ा एक व्यवसाय 'पढ़ाना' है, ऐसा वे भी मानते हैं। उनकी आपसी चर्चाएँ भी इसी निजी व्यवसाय पर होती रहती हैं। यदि इससे समय मिल भी जाए तो गाँव के टंटे-बखेड़े, विविध झमेले, राजनीति, मनोरंजन आदि से छुटकारा कहाँ? ऐसे माहौल में बच्चों के बौद्धिक विकास का क्या कहें? सारी परिस्थिति शोचनीय ही है।

1960-70 के दशक में जो शिक्षा संस्थान स्थापित हो गए हैं, उनकी बात सर्वथा भिन्न है। उनके स्थापनकर्ता शिक्षा के प्रति निष्ठावान् थे। वे शिक्षा दान को पवित्र एवं महत्वपूर्ण कार्य समझते थे। उस समय के स्थापित शिक्षा संस्थान आज भी पूरे दम-खम के साथ कार्यरत हैं। आज समय ऐसा आ गया है कि प्रत्येक नेता का अपना निजी शिक्षा संस्थान है। जब सत्ता उनके हाथों में रहती है तब अनेक तरीकों को अपनाते हुए वे संस्थान की मंजूरी ले आते हैं और पैसों की लालच अथवा घूस लेकर नौकरों की भरती भी करवा लेते हैं। अब तो यह एक (गोरख) धंधा ही बन गया है। इस कार्य में कुछ नियमों को ताक पर रखकर भी पूरा किया जाता है। परंतु यदि किसी कारणवश संस्थान को मंजूरी मिलने से पहले मंत्री महोदय के हाथों से सत्ता छिटक जाती है तब, स्थानीय नेताओं, स्कूल शिक्षक आदि समस्त जनों को दोबारा सत्ता मिलने तक इंतजार करना पड़ता है। ऐसे अधिकांश स्कूलों में पढ़नेवाले बच्चे तो निराधार रहते ही हैं, परंतु शिक्षकों को भी बगैर वेतन के चाकरी करनी पड़ती है। कई बार संस्थान को मान्यता मिलने पर भी वेतन दिया नहीं जाता है। अधिक वेतन के परचे पर उनके हस्ताक्षर लेकर उन्हें कम पैसों का भुगतान किया जाता है।

इस प्रकार के 'अंधेर नगरों' में माध्यमिक स्कूलों की अवस्था चौपट हो गई है। बिना वेतन काम करनेवाले शिक्षकों का जीवन 'बंधुआ मजदूरों' सा हो गया है। कई बार तो उन्हें खेतिहर मजदूरों से भी कम वेतन पर काम करना पड़ता है। उन बेचारों की मानसिक और शारीरिक अवस्था पैसों के अभाव में दयनीय हो जाती है और तब उनका ज्ञानदान का निहित कर्म वे ठीक से निभा नहीं पाते हैं। इन में एकाध शिक्षक अथवा हेडमास्टरजी ऐसे भी पाए जाते हैं, जो अपना काम खूब मन लगाकर करते हैं और उसका अच्छा असर उनके छात्रों पर दिखाई भी देता है।

प्राथमिक स्कूलों में ही बच्चे ऐसे शिक्षकों के अधीन होते हैं, जो बेचारे खुद ही अच्छी शिक्षा प्रदान करने में सक्षम नहीं हैं। स्कूलों का वर्णन तो विदारक ही होता है! टीन की छतवाले सीलन भरे कमरे। प्रयोगशाला, खेल का मैदान, वाचनालय आदि मूलगामी सुविधाओं का अभाव। ऐसे वातावरण में मूलतः अज्ञानी और पिछड़ेवर्ग के बच्चों में अध्ययन के प्रति रुझान कैसे निर्मित होगा भला? आज के स्पर्धात्मक युग में अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए जरूरी क्षमताओं का विकास, ऐसे नकारात्मक वातावरण में कुंठित हो जाता है। अब दूसरा विदारक सत्य यह भी कि स्कूल में ज्ञानार्जन से वंचित रह जानेवाले छात्रगण के लिए 'ट्यूशन' नामक गृह उद्योग की शरण में जाना ही पड़ता है। यानी खेतों में मजदूरी करनेवाले अज्ञानी मजदूरों के बच्चे, इस महंगी शिक्षा से वंचित ही रह जाते हैं। गरीब माँ-बाप कहाँ से पैसा लाएँगे भला?

इसी धकापेली के आसरे ग्रामीण विद्यार्थी दसवीं-बारहवीं अथवा पदवी यानी 'उपाधि' की परीक्षा के बाद अटक जाता है। नए मार्ग की खोज के दौरान उसकी समझ में पहली बार यह बात आती है कि अपने हाथों से अनेक अवसर पहले ही छिटक गए हैं। जो मौके सामने उपलब्ध हैं, वे उन्हें अपनी पहुँच से बाहर होने का अनुभव कराते हैं। छात्रों का अब तक का सारा प्रवास एक ही लीक पर चलता रहा था, अब उसे छोड़कर किसी दूसरी राह पर कदम रखने की हिम्मत वह जुटा नहीं पाते हैं। ग्रामीण विभाग के तमाम स्कूलों, महाविद्यालयों में कामकाज का एकमात्र उद्देश्य यही दिखाई देता है कि हर साल बच्चे को अगली कक्षा में ढकेलो और अंत में उसके हाथों में एक प्रमाण-पत्र थमा दो, बस!

आर्थिक उदारीकरण के इस युग में प्रत्येक क्षेत्र में स्पर्धा है, नौकरी मिलने के लिए खास तकनीकी ज्ञान की परम आवश्यकता है, कार्य कुशलता अनिवार्य है, अतः ग्रामीण विभाग से आई तरुणाई इस क्षेत्र में टिक ही नहीं सकती। तब उनके अनपढ़, गरीब माता-पिता इसी भ्रम में होते हैं कि बच्चा पढ़-लिख गया है, उसके हाथों में प्रमाण-पत्र भी है, तब उसे नौकरी तो मिलेगी ही! जबकि प्रमाण-पत्र धारक युवक पग-पग पर धक्के खाता है। उसकी समझ में आ गया होता है कि उसने कई अच्छे अवसर खो दिए हैं। फिर उसे दसों दिशाओं से सलाह (फोकट में) देनेवाले मिल जाते हैं, परंतु सही मार्गदर्शन देनेवाला

कोई नहीं मिल पाता है। वैसे ही उचित मार्ग खोजने में हुआ विलंब, मार्ग की अनिश्चितता, आत्मविश्वास का अभाव और साधन-सामग्री की कमी उसे सताती है। वह परेशान हो उठता है।

‘मेरिट’ नामक गुणवत्ता, हमेशा शहरी महँगे स्कूलों एवं ‘ट्यूशंस’ से जुड़ी होती है। सामान्य गरीब ग्रामीण विद्यार्थियों से वह सौ-सौ कोस की दूरी पर बसती है। अब यदि दसवीं और बारहवीं में अच्छे यानी उत्तम नंबर मिलते हैं, तब ही आगे अच्छे महाविद्यालयों में दाखिला मिलने की संभावना होती है। अन्य विद्यार्थियों के नसीब में साधारण कॉलेज ही लिखे होते हैं। शैक्षिक गुणवत्ता में मौजूद यह फर्क प्राथमिक स्कूल से लेकर महाविद्यालय तक सर्वत्र दिखाई देता है। ऐसे निरुत्साही वातावरण में शिक्षा प्राप्त किए छात्रगण तो ईंधन रहित खटारा मोटर जैसे प्रतीत होते हैं।

ग्रामीण विद्यार्थिगण बिल्कुल थोड़े से समय में ही नई बातों से आकर्षित हो जाते हैं। उन्हें स्पर्धा परीक्षाओं से मिलनेवाले पदों का गहरा आकर्षण रहता है। यानी यदि उन्हें पुलिस महकमे में अफसर बनने की चाह है, तो वे पुणे, नासिक जैसे शहरों में पहुँच जाते हैं। उनके अज्ञान से पुस्तक विक्रेता अपना फायदा करवा लेते हैं। यानी सुंदर छपाईवाली, किसी बड़े अफसर की तसवीर से सजे मुखपृष्ठ की आकर्षक पुस्तकें वे बेचते हैं। इन पुस्तकों में कई सफल अफसरों के अनुभव, आपबीती लिखी होती है। बस, यही हथकंडे हैं पुस्तक की जोरदार खपत के और ‘क्लासेज’ के विज्ञापन के। इस आकर्षण से भ्रमाएँ उन छात्रों के पास उस समय न विवेक का साथ होता है और न ही विचारों का।

पढ़ाई में नियोजन का, आत्मविश्वास का अभाव होने के कारण बड़ी संख्या में ग्रामीण स्पर्धक असफल हो जाते हैं। जो छात्र अपने घर में रहकर परीक्षा की तैयारी करते हैं, उनकी स्थिति दयनीय होती है। पढ़ाई के साथ-साथ खेतों का काम जो करना पड़ता है। इसी के फलस्वरूप सारा ध्यान परीक्षा पर केंद्रित नहीं हो पाता है। मार्गदर्शन के अभाव में किस विषय की तैयारी कहाँ तक करनी है, यह समझ में नहीं आता है। अँधेरे में तीर मारने वाली बात हो जाती है। परीक्षा में बैठने से पहले ही स्वप्नरंजन में खो जाना, अपने आपको अफसर मानना, बड़ा घातक सिद्ध होता है। गाँव-खेड़ों में बात छिपी रह न पाती है तब आस-पास के लोगों की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाओं से सामना भी करना पड़ता है। लोग मजाक भी उड़ाते हैं। परीक्षा पास होने से पहले ही ‘कहिए तहसीलदार साहब’ कहकर चिढ़ाते भी हैं। यह सबकुछ सहा नहीं जाता है, पर कोई और उपाय भी नहीं सूझता! अब यदि कोई पूर्व परीक्षा में पास हो जाता है और दूसरी में फेल, तब स्थिति और भी विकट हो जाती है, क्योंकि इस पास-फेल के बीच के अंतर को समझाना नामुमकिन-सा हो जाता है। न माता-पिता समझ पाते हैं और न ही पास-पड़ोसी। फिर सुनने को मिलता है, ‘फलाँ-फलाँ ने बड़ी रिश्तत दी और

ऊँचा पद पा लिया। तुम जैसे निर्धन की दाल वहाँ नहीं गलेगी'। इसका जवाब असफल प्रत्याशी के पास होता नहीं है।

अधूरी पढ़ाई के परिणाम भी दुःखदायी होते हैं। कई बार परीक्षा देने के बाद हाथ आई विफलता जीवन का रुख ही बदल देती है। समय के चलते कई अवसर हाथ से छिटक गए होते हैं। उम्र के हिसाब से विवाह हो गया होता है, तब किसी नए उपक्रम को स्वीकारने की हिम्मत नहीं होती है, क्योंकि आत्मविश्वास डगमगा गया होता है। कई बार तो ऐसा भी देखने में आता है कि ऊँचे पद के लिए लड़का पढ़ रहा है, अधिक दहेज देकर लड़कीवाले अपनी बेटी उससे ब्याह देते हैं।

बड़े शहरों के छात्रों की बात अलग होती है। उन्हें अपनी क्षमता आजमाने का अवसर मिलता है; परंतु ग्रामीण इलाके से आए छात्रों की परिस्थिति इनसे भिन्न होती है। पैसों के अभाव के कारण किसी छोटे से कमरे में चार-पाँच विद्यार्थी रहते हैं। नहाने की, खाने की व्यवस्था मानो समस्या ही लगने लगती है। प्रतिदिन का समझौता। पर्याप्त पुस्तकों का अभाव। इन्हीं में से यदि एकाध छात्र सभी मुसीबतों का सामना करते हुए लक्ष्य प्राप्त कर लेता है, तब औरों के मन में फिर नई आस, नई उम्मीद बँध जाती है। आस की इसी क्षीण किरण के बल पर वे जीवित रह पाते हैं।

प्रशासनिक धांधली तो बहुत बड़ी समस्या है। समय-बेसमय आनेवाले आयोग के विज्ञापन, रद्द कर दी जानेवाली परीक्षाएँ, भ्रष्टाचार के आरोप, न्यायालय में लंबे समय तक चलनेवाले मुकदमे और उसकी वजह से फिर देर से होनेवाली परीक्षा छात्रों की सहनशक्ति खत्म कर देती है। इसके बाद का खतरा यानी परचे का 'लीक' होना, प्रतिवर्ष परचों की रूपरेखा में किया जानेवाला बदलाव आदि से छात्र परेशान हो जाते हैं। यानी चौड़े पाट की नदी में उतर तो गए हैं, उसे पार करना तो कठिन है और लौटकर वापस आना भी मुश्किल! इसका मुख्य कारण यही कि जीवन के मौलिक वर्ष इसी लक्ष्य हेतु बीत गए होते हैं तब सिर्फ स्पर्धा परीक्षा के विचार को सहेजते रहना और परीक्षा में बैठना, यही एकमात्र विकल्प बचता है। अंत में इसी की लत लग जाती है, जो छूटने का नाम नहीं लेती है। फिर दो विकल्प सामने आते हैं, या तो इस पार रहो या उस पार निकल जाओ, क्योंकि उम्र की देहरी का रोड़ा भी साथ में चलता है।

जब मैं पुणे विश्वविद्यालय में पढ़ रहा था, मैंने लोकसेवा आयोग की परीक्षा की तैयारी करता हुआ छात्रों का एक समुदाय ही देखा था। अपना अधिकांश समय वे, वहाँ के बहुत बड़े 'जयकर ग्रंथालय' में बिताया करते थे। दिन भर वे ग्रंथालय में पढ़ते थे और देर रात गए अपने पहचान के किसी छात्र के कमरे में, छात्रावास में, बड़ी लाचारी के बोझ तले सो जाया करते। सुबह उठकर फिर ग्रंथालय की राह निकल जाते। वे हमेशा डरे, सहमे लगते थे; क्योंकि अचानक छात्रावास में जाँच होने का डर तथा ग्रंथालय में पहचान-पत्र की जाँच का

डर उन्हें शांति से जीने नहीं देता था। यदि कभी यह 'चोरी' पकड़ी जाती तो सारा दिन व्यर्थ हो जाता। दूसरी अहम् बात यह भी कि लोकसेवा आयोग की निष्ठापूर्वक तैयारी न करनेवाले छात्र भी बहुतेरे होते थे। कुछ विद्यार्थी अपने बेंच पर पुस्तकें फैलाकर बाहर गपशप में लीन रहते तो कोई कोई हर आधे घंटे के बाद चाय पीने के बहाने बाहर चक्कर लगा आते थे। वे अपनी पढ़ाई का दिखावा भी करते थे। जो विद्यार्थी प्राथमिक परीक्षाओं के उत्तीर्ण छात्र होते थे, उनकी अलग शान होती थी। वो बढ़िया कपड़े पहनते और कुछ ऊँची आवाज में दो-चार जूनियर्स को मार्गदर्शन करते दिखाई देते थे। उनके आस-पास पंद्रह-बीस लोगों का जत्था जमा रहता था। फिर वे सभी बड़े आश्चर्य से सबकुछ सुनते। उत्तीर्ण छात्र क्या खाता है, क्या पहनता है, आदि की वे आपस में चर्चा भी करते। ऐसे जत्थे में मैं भी शामिल रहता था।

अमीर तबके का एकाध गुट ऐसा भी था, जिसमें वे अपने माता-पिता की इच्छा के खातिर लोकसेवा आयोग परीक्षा की तैयारी में जुटते थे। उनका दिन बड़े आराम से बीतता था। अधिकांश समय वे मोटरसाइकिल पर चक्कर लगाते हुए राह में चल रहे 'सौंदर्य' को निहारने का काम मनःपूर्वक करते थे। फिर यदि समय मिल जाता, तो 'जयकर ग्रंथालय' भी पहुँच जाते। खूब मन लगाकर पढ़नेवाले, परीक्षा की ही तैयारी में जुटे बहुत ही कम विद्यार्थी होते थे। बाकी बचे कुछ छात्र उनके आस-पास मँडराते रहते। उनकी सलाह से पढ़ते-लिखते, खाते-पीते और सोते भी थे। परीक्षा हो जाती और नतीजा भी निकल आता। दूध का दूध और पानी का पानी साफ अलग दिखाई दे जाता। किसी कोने में मन लगाकर पढ़नेवाला छात्र, जिसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं होता था, वह उत्तीर्ण हो जाता! अनुत्तीर्ण छात्र गमगीन हो जाते। नतीजे के बाद कुछ दिनों तक 'जयकर ग्रंथालय' का परिसर कुछ शोकाकुल सा रहता। फिर आपसी चर्चा का विषय अलग रहता। वह 'उत्तीर्ण छात्र' कितना अच्छा है—उससे हमने संपर्क बनाए रखा है, वैसे हमने उसे कितनी सारी मदद की, आदि-आदि चर्चाएँ होतीं। हमारी तैयारी में क्या खामी रह गई, इसे जाँचने के बजाय 'उस' के नोट्स, पुस्तकें आदि पर चर्चा होने लगती।

स्पर्धा परीक्षाओं का गहरा आकर्षण और उसका नशा, एक अनोखी बात है। कितने ही जीते-जागते उदाहरण मैंने पुणे विश्वविद्यालय में देखे थे। मेरा परिचित एक युवक गाँव से आया था। माँ अपनी खेती में दिन-रात खटती और उसे थोड़े से पैसे भेज पाती। वह जब छोटा था, तभी उसके पिता का देहांत हो गया था। एकमात्र बहन का विवाह माँ ने समय से कर दिया था और अब वह बेटे की सफलता की आस लगाए बैठी थी। लगातार चार वर्षों से उसे असफलता से सामना करते हुए मैंने देखा था। मृदु स्वभाव के इस युवक पर मुझे खूब दया आती थी।

दूसरा किस्सा एक ऐसे लड़के का था, जो छात्रावास में 'पैरासाइट' बनकर दिन गुजार रहा था। पिता के देहांत के बाद भाई ने उसकी जिम्मेदारी स्वीकार ली थी। उसे इंजीनियर बनाया, परंतु 'समीर' के दिमाग में डी.वाई.एस.पी. बनने की सनक पैदा हो गई। तीन बार उसे असफलता का मुँह देखना पड़ा। उसकी भाभी अब इस जिम्मेदारी से छुटकारा पाना चाहती थी। उनके घर में लड़ाई-झगड़ा हो जाता था, तब समीर घोर चिंता में पड़ जाता। निराश हो जाता। ऐसे समय में उसे समझाना बड़ा मुश्किल काम हो जाता।

पढ़ाई के दौरान मन उम्मीदों से सरोबार रहता है। सफलता आपको जीवन के सुंदर शिखर के दर्शन करवा देती है, परंतु बार-बार की असफलता आपको वास्तविकता का भान दिलाती है। यह असफलता कई प्रेमी-प्रेमिकाओं को जुदा कर देती है। अलग राहों पर निकल जाने को मजबूर करती है। ऐसे कई विफल 'जोड़ों' को मैंने देखा है। उदय-मीनाक्षी का किस्सा, माधुरी-दीपक का किस्सा, और भी कई लोगों के किस्से भुलाए नहीं भूलते हैं।

जब हम उन विद्यार्थियों पर नजर डालते हैं, जो पूरे मनोयोग से परीक्षा की तैयारी में लगे होते हैं, तब उनकी दिनचर्या, मानसिक खींचातानी को बारीकी से देखने पर उनके कठोर परिश्रम का अंदाजा हमें लगता है। स्पर्धा परीक्षा में समाहित विषयों की परिधि बड़ी विस्तृत है। इतिहास से लेकर संख्याशास्त्र तक अनेक विषयों का ज्ञान अपेक्षित होता है। हर साल नई परीक्षा। परचे तैयार करनेवाले लोग अलग और जाँचनेवाले लोग अलग होते हैं। एक वर्ष जिस पद्धति से पढ़ाई करने पर अच्छे नंबर मिले हैं, तब अगले वर्ष उसी पद्धति के अवलंबन से उतने ही अच्छे नंबर मिलेंगे, ऐसा होता नहीं है। हर साल किन्हीं खास विषयों में औसत से अधिक नंबर दिए जाने की वजह से परीक्षार्थी भी असमंजस में पड़ जाता है। इसके बाद यदि साक्षात्कार का मौका मिल जाता है तो वहाँ भी मुसीबतों का सामना करो! परीक्षार्थी को लोकसेवा आयोग के विभिन्न पैन्ल्स से सामना करना पड़ता है। इन पैन्ल्स में उम्मीदवार की क्षमता को जाँचने के नियम मोटे तौर पर भले ही समान दिखाई देते हों परंतु प्रत्यक्ष रूप में इनमें बड़ा फर्क नजर आता है। यानी यदि कोई उम्मीदवार लगातार दो वर्षों में दो पैन्ल्स के सामने साक्षात्कार देता है, उसे मिलने वाले नंबरों में भी फर्क आ जाता है। वैकल्पिक विषय के चयन पर परीक्षार्थी का भविष्य निर्भर करता है। भले ही इस यंत्रणा के समस्त घटक किसी एक विद्यार्थी का भविष्य तय नहीं करते हों, फिर भी मोटे तौर पर उसके भविष्य पर असर अवश्य पड़ता है।

परीक्षा के नतीजे पर असर करनेवाली कई और बातें भी हैं। स्पर्धा परीक्षाएँ किन्हीं खास शहरों की बपौती बन गई हैं। साथ ही इनके लिए खास कोचिंग की दुकानों का बाजार भी गरम है। हजारों छात्र हजारों रुपए खर्च करते हैं और इस बाजार में बिक रहे मार्गदर्शन को खरीदते हैं। इनके विज्ञापनों के आकर्षण से भ्रमाएँ विद्यार्थी इस मोह का शिकार हो जाते हैं।

स्पर्धा परीक्षाओं में पास होने के लिए क्या 'कोचिंग' की वाकई आवश्यकता है? इसके जवाब में मेरी 'हाँ' भी है और 'ना' भी। समय के साथ परीक्षार्थियों की संख्या बढ़ रही है और रिक्त स्थानों में कमी आ रही है। इस जानलेवा स्पर्धा में सीमित समय में अधिक विषयों को समझ लेना और पढ़ना जरूरी हो गया है। क्लास लगाने का फायदा यह है कि हमें कम समय में 'कैप्सूल' फॉर्म में किसी विषय की समस्त जानकारी और अध्ययन साहित्य उपलब्ध रहता है और हमें अंदाजा हो जाता है कि हम कितने गहरे पानी में हैं, क्योंकि परीक्षा में सम्मिलित होनेवाले अन्य उम्मीदवारों में हम अपनी तुलना सहज रूप से कर सकते हैं। कई पुस्तकें बहुत महंगी होती हैं, परंतु वे वहाँ उपलब्ध भी रहती हैं। मिल-बाँटकर उन्हें पढ़ा जा सकता है। देश के कोने-कोने से आए छात्रों में से सभी को इस परीक्षा के परिधि का अंदाजा होता नहीं है। क्लास की वजह से वे इससे भी परिचित हो जाते हैं।

क्लास की आवश्यकता पर मेरा जवाब 'ना' दो वजहों से है। बड़े शहरों में 'कोचिंग क्लास' में ऊँचे दर्जे का मार्गदर्शन करनेवाले सभी लोग नहीं होते हैं। कई जगहों पर इसे शिक्षा का व्यापार ही बना दिया गया है। सिर्फ रुपया कमाने का एक जरिया मात्र! दिल्ली, मुंबई जैसे शहरों में रहना और पढ़ना बहुत ही खर्चीला है। फिर सामान्य विद्यार्थी तो और मुश्किल में पड़ जाते हैं। उसके मन में यह विश्वास होता है कि कोचिंग क्लास में पढ़ने के बाद मुझे सफलता अवश्य मिलेगी, जो एक गलतफहमी भी है। जैसे-तैसे पैसों का जुगाड़ करने पर वह वहाँ दाखिल हो जाता है और असफलता मिलने पर उसके मन को गहरी ठेस तो पहुँचती ही है, साथ ही उसका भविष्य भी बिगड़ जाता है।

स्पर्धा परीक्षा के कोचिंग के क्षेत्र में क्लासवालों की भूमिका का महत्वपूर्ण योगदान उनके तरीकों पर निर्भर करता है। परीक्षार्थी, इन्हीं के माध्यम से इन परीक्षाओं से परिचित होते हैं। अधिकांश कक्षाओं के प्रवर्तक इन परीक्षाओं में सम्मिलित होकर उनका अनुभव लिये लोग होते हैं। उनका सही मार्गदर्शन सफलता दिलवा सकता है, परंतु इसके लिए परीक्षार्थी को भी पूरा-पूरा ध्यान देना जरूरी है। परीक्षार्थी के लिए सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा है, अंत तक अपना आत्मविश्वास बनाए रखना। अपने क्लास के सहपाठियों से निरंतर संपर्क में बने रहने से पढ़ाई में तल्लीनता मिलती है। इससे आत्मविश्वास भी बढ़ता है।

स्पर्धा परीक्षाओं के नतीजे घोषित हो जाने के बाद कोचिंग क्लासवालों की एक अलग प्रकार की दौड़-धूप शुरू हो जाती है। तमाम सफल विद्यार्थियों के नामों का विज्ञापन के जरिए उपयोग करने की उनमें होड़ मच जाती है। भले ही कोई सफल उम्मीदवार दाखिले से पहले उनके पास सिर्फ पूछताछ के लिए ही क्यों न गया हो, उसके नाम का भी इस्तेमाल वे अवश्य करेंगे ही! अपने क्लास की बेजोड़ सफलता का 'दिखावा' करने हेतु उन सभी के नामों का इस्तेमाल करने से भी वे चूकते नहीं हैं। ऐसा भी सुनने में आया है कि विज्ञापन हेतु उत्तीर्ण

प्रत्याशी के साथ सौदेबाजी भी चलती है। सच तो यह है कि परीक्षा की परिधि और तरीका देखने के बाद यही सिद्ध होता है कि सिर्फ क्लास के भरोसे सफलता पाना संभव नहीं है। दूसरा कटु सत्य यह है कि दिनोदिन क्लास की फीस तेजी से बढ़ती जा रही है, जो आम विद्यार्थी की पहुँच से बाहर है। बड़े शहरों में पढ़ाई की सुविधा अवश्य उपलब्ध है, परंतु खर्च भी उतना ही अधिक है।

शिक्षा के क्षेत्र में अच्छे मार्गदर्शन के प्रति अच्छे संस्थानों का स्थापित होना बड़ा जरूरी है, जहाँ स्पर्धा परीक्षाओं के मार्गदर्शन के साथ-साथ अन्य व्यवसायाभिमुख पाठ्यक्रम, व्यक्तित्व विकास तथा विविध क्षेत्रों के संस्थानों, छात्रवृत्तियों तथा अर्थ-सहायता के प्रति भी मार्गदर्शन मिले। लोक कल्याण हेतु ऐसे संस्थान स्थापित करने से प्रादेशिक असंतुलन कम करने में मदद मिलेगी। इस कदम को उठाने के लिए प्राथमिकता देनी चाहिए। दुर्भाग्य की बात यह है कि ऐसे उपक्रम सिर्फ बड़े शहरों में ही दिखाई देते हैं, जिनमें से अधिकांश संस्थान सिर्फ पैसा कमाने के उद्देश्य से कार्यरत रहते हैं।

समय ऐसा आ गया है कि आज की तरुणाई को अपनी स्कूल तथा महाविद्यालयीन शिक्षा के दौरान चौकन्ना (दक्ष) होने की जरूरत है। हमें अपने जीवन में आगे क्या करना है, किस तरीके से करना है, यदि यह पक्का तय हो जाता है, तब पूर्व-तैयारी के लिए समय भी मिलता है। समय से सही राह चुनने से 'कृत्रिम टॉनिक' की जरूरत भी नहीं पड़ती है, इस सत्य को कई युवक-युवतियों ने सिद्ध कर दिखाया है। इनमें महाराष्ट्र के विशाल सोलंकी, किरण गीते, अमित तैलंग जैसे और भी कई लोगों का समावेश है।

स्पर्धा परीक्षा देने का विचार मेरे मन में उस समय उपजा, जब मैं उपाधि के अंतिम वर्ष में था, परंतु उसके लिए क्या करना पड़ता है, इसका संभ्रम लंबे समय तक मन में बना रहा। उस समय सुना था कि आई.ए.एस. होने के लिए आदमी को मूलतः बहुत ज्ञानी होना चाहिए। जिनकी पढ़ाई बढ़िया स्कूलों एवं महाविद्यालयों में हुई है, जो हमेशा मेरिट में रहे हैं, वे ही इससे पार पा सकते हैं। ऐसे सफल विद्यार्थियों के साक्षात्कारों को पढ़ने पर मन में हीनता की भावना निर्मित हो जाती है। क्या मैं इतना बुद्धिमान हूँ? क्या मेरी क्षमता इतनी है भी? मैं जो सपना देख रहा हूँ या सँजो रहा हूँ, क्या वह मेरे बस की बात है? ऐसी अनेकविध आशंकाएँ मन को घेर लेती हैं।

फिर पुस्तकों में पढ़े हुए, बड़ों द्वारा सुनाए गए किस्से, उदाहरण मुझे ऐसी आशंकाओं से उबार भी लेते। फिर विश्वास होने लगता था कि दृढ़ निश्चय के, कठोर अथक परिश्रमों के बल पर अपने उद्देश्य को हम अवश्य पूरा कर सकते हैं। कई छोटी-बड़ी घटनाओं ने मेरी मानसिकता को बल दिया। क्रीड़ा के क्षेत्र के उदाहरण, स्पर्धा परीक्षा में उत्तीर्ण हुए साधारण परिवार के छात्र मेरी प्रेरणा बन गए।

जब मैं पुणे में पढ़ रहा था, आनंद पाटील नामक एक देहाती विद्यार्थी को आई.ए.एस. में मिली सफलता देखने पर मेरी समझ में यह बात आ गई कि हम दोनों का विगत जीवन एक समान ही रहा है। उसकी सफलता से मुझे बड़ी प्रेरणा मिली। वह मूलतः कला शाखा का विद्यार्थी था। पुणे विश्वविद्यालय के अहाते में उससे मेरी मुलाकात हो गई। मैंने उसके द्वारा लिखे गए नोट्स को पढ़ा और तब जाना कि आई.ए.एस. होने के लिए अमीर होना जरूरी नहीं है अथवा किसी खास जगह से आने की भी जरूरत नहीं! स्पर्धा परीक्षा में उत्तीर्ण प्रत्येक प्रत्याशी की तुलना, मैं अपने से कर लेता था। उसने प्राप्त किए नंबर, उसकी उम्र, अर्जित उपाधियाँ, उसके द्वारा किए गए प्रयत्न एवं परिश्रम, उसकी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति आदि की तुलना! यानी बुद्धिमान छात्रों की तुलना में अपने आपको परखने में मुझे कोई संकोच होता न था। मेरे देखते-ही-देखते पांडुरंग पोल, विजय पिंगले, नीलकंठ शेलके, राजेश स्वामी आदि की बेजोड़ सफलता इसका प्रमाण है। वे सभी साधारण परिस्थितिवाले परिवारों के छात्र थे। उनकी सफलता ने मुझमें नया उत्साह भर दिया।

मेरी हर तरह की असमंजसता दूर हो गई और मैंने अच्छी तरह से समझ लिया था कि सफलता पाने की कुंजी है—सिर्फ सही दिशा में किए गए सही प्रयत्न, अपार मेहनत और संपूर्ण आत्मविश्वास। छात्र की आर्थिक, सामाजिक स्थिति से उसके द्वारा झेली गई समस्याओं का इन परीक्षाओं की सफलता से कुछ लेना-देना होता नहीं है। किसी की सहानुभूति से भी कोई फर्क नहीं पड़ता है। कठोर परिश्रमों से जो कुछ भी हासिल होगा, सिर्फ वही मेरा 'हिस्सा' है, इस बात को मैंने मन-ही-मन स्वीकार लिया था और अंत में अपने मन को यह भी समझा लिया कि तुम शून्य से ऊँचे उठने की जी-तोड़ कोशिश में लगे हो, यदि कुछ हासिल हो जाता है तब तो बहुत ही अच्छी बात है, परंतु यदि तुम्हें दोबारा अपने-अपने 'शून्य' के पास लौटना पड़ा तो भी तुम्हारा कोई नुकसान नहीं है।

मेरे विचारों में एक और भी खास परिवर्तन आता गया। ईश्वर तथा भाग्य पर निर्भर रहने की मेरी मानसिकता बदलती गई। अपने कठोर परिश्रम पर मेरा विश्वास बढ़ता गया। इस परिवर्तन के लिए थोड़ा समय मुझे अवश्य लगा, परंतु अपने सही कार्य और परिश्रमों के प्रति मेरी दृढ़ता और बढ़ती गई। अपने घर में अपने बचपन से मैं धार्मिक वातावरण में पला-बढ़ा हूँ, इसीलिए इस प्रकार के विश्वास से दूर हटने में मुझे कुछ समय अवश्य लगा। मेरे मन में एक ऐसा नया विश्वास भी जागा कि हर अच्छी करनी में, कार्य में ही ईश्वर का वास होता है। 'ईश्वर' मात्र अच्छाई का प्रतीक है, अनादि काल से मनुष्य को अलौकिक, अद्भुत गुणों के प्रति गहरा आदर और आकर्षण रहा है, क्योंकि सामान्यजनों में यह गुण पनप नहीं पाता है। सद्भाव और अच्छाई भरा आचरण मनुष्य में देवत्व का प्रतिनिधित्व करता है, यह विश्वास बढ़ता गया। भगवान् की मूर्ति के सामने घंटों भजन, कीर्तन, नाम-स्मरण करने के बजाय उपेक्षितों की समस्याओं, मुश्किलों

को सुलझाने के बाद उनके चेहरों पर जो संतोष और खुशी दिखाई देती है, उसी में देवत्व के अंश का आभास होता है, ऐसा मेरा मानना है। स्वामी विवेकानंदजी ने इस विचार को प्रस्तुत किया है।

इसी विचारधारा के अवलंबन से मैं अपने लक्ष्य से विचलित न हो पाया। अपनी असफलता का दोष मैंने किसी के माथे थोपा नहीं। अपने आप के प्रति मैंने टीकात्मक दृष्टिकोण को अपनाया, जिसकी वजह से मैं अपनी क्षमताओं का विनियोग उचित तरीके से कर पाया और अपने अंदर समाहित खामियों को दूर कर सका। संघ लोकसेवा आयोग की परीक्षा में भी मैं कई बार असफल रहा, परंतु प्रत्येक असफलता के बाद मैंने अपनी अध्ययन पद्धतियों में और विषयों की तैयारी में सुधार भी किए। जो बातें मेरे बस के बाहर की थी, उनकी ओर मैंने ध्यान देना बंद कर दिया।

संघ लोकसेवा आयोग की परीक्षा की तैयारी का आरंभ मैंने पुणे विश्वविद्यालय में किया। 'जयकर ग्रंथालय' में बैठकर अध्ययन करनेवाले छात्रों से मैंने बहुत कुछ सीखा। लोकसेवा आयोग का एक भूतपूर्व छात्र प्रवीण चव्हाण उन दिनों पुणे यूनिवर्सिटी के परिसर में स्थापित 'खेर वाड्मय भवन' के एक खाली कक्ष में मार्गदर्शन करता था। समय मिलते ही मैं भी वहाँ जा बैठता। अन्य छात्रों की अच्छी तैयारी तथा उनकी शैक्षिक सामग्री देखकर मैं निराश सा हो जाता था क्योंकि मैं वहाँ नया नया छात्र था और बाकी कोई भी मुझसे साझेदारी करने को उत्सुक नहीं था। उस समय मेरी 'जूनियर रिसर्च फैलोशिप' बहाल हुई थी और मैं एम.फिल. में दाखिल हो गया था। सभी को स्पर्धा परीक्षा की तैयारी में जुटा देखकर मैं छटपटा जाता, क्योंकि मुझे इस पढ़ाई के लिए पर्याप्त समय नहीं मिल पा रहा था। मेरे मार्गदर्शक आदणीय राजर्षि सर मेरी दुविधा मनःस्थिति को खूब समझ रहे थे, परंतु वे भी मदद करने में सक्षम नहीं थे।

अनुसंधान करनेवाले हम सभी छात्र जब मासिक वेतन हेतु अपने मार्गदर्शकों के पास संबंधित पत्रक पर हस्ताक्षर करवाने जाते थे, तब बड़ा मजा आता था; क्योंकि नियम ऐसा था कि काम में यदि कुछ प्रगति है, तब ही हस्ताक्षर होंगे और तब ही वेतन भी मिलेगा। हम सभी छात्र हर महीने के अंतिम पाँच दिनों में थोड़े से काम का जुगाड़ कर लेते और मार्गदर्शकजी का 'मूड' देखकर धीरे से पत्रक उनके सामने रखकर हस्ताक्षर करवा लेते। पढ़ाई के साथ-साथ और भी कई कामों ने हमें व्यस्त कर रखा था। यानी हँसी-मजाक के साथ-साथ लड़के-लड़कियों एवं अध्यापकों पर कॉमेंट करने में समय बीतता था। इसके बाद इधर-उधर डोलना, सोना, पुस्तकों को करीने से लगाना और इसके बाद यदि समय बच जाता है, तब विभाग में आयोजित व्याख्यान में उपस्थित भी हो जाना!

हमारे विभाग में घटित घटनाओं से भी हम खूब आनंद लेते थे। स्नातकोत्तर कक्षाओं में नए छात्र-छात्राओं को पढ़ाने की जिम्मेदारी भी हम पर सौंपी जाती थी और तब चर्चा का नया विषय भी अनायास मिल जाता—‘कौन कैसी है’ आदि आदि। चाय के बहाने हम ओपन कैटीन में घंटों चिपके रहते। पढ़ाई के अलावा धरती पर विद्यमान सभी विषयों पर चर्चा करने का ठेका हमने ले रखा था। जब मेरे दोस्तों को पता चला कि मैं आई.ए.एस. की परीक्षा में रुचि ले रहा हूँ, क्लास में भी हाजिरी लगा लेता हूँ, तब तो मेरी भी खिल्ली उड़ाई जाने लगी। हँसोड़ स्वभाव का जलील और शैतानी में माहिर संभाजी शेडाले सारे वातावरण में जान डाल देते थे। इस सब के बावजूद मेरे अंतर्मन में डोल रहे अनिश्चितता के बवंडर की वजह से मैं अनमना सा बना रहता।

सारी धकापेली में तीन महीने कैसे गुजर गए, पता ही नहीं चला। मैं ‘भारतीय सांख्यिकी सेवा’ की लिखित परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया और मुझे साक्षात्कार (इंटरव्यू) के लिए चुना गया था। मौखिक परीक्षा दिल्ली में थी। मुझे दिल्ली जाने का मौका मिलेगा, ऐसा तो मैंने सपने में भी न सोचा था। मेरे साथ मेरे एक सीनियर को भी इंटरव्यू के लिए बुलवाया गया था, इसीलिए मैं कुछ-कुछ चिंतामुक्त हो गया था। बाद में उसी सीनियर ने मेरे टिकट की एवं वहाँ रहने की व्यवस्था कर दी। जीवन में पहली बार मैं आरक्षित डिब्बे में प्रवास पर निकला था। इससे पहले मेरी ऐसी हैसियत तो थी ही नहीं। आरक्षित तथा अनारक्षित में मौजूद फर्क मेरे लिए अत्यंत महत्वपूर्ण होता था। इससे पहले एक-दो बार सेनादल में इंटरव्यू का बुलावा आने पर, उस महकमे द्वारा आरक्षित डिब्बे के किराए का प्रावधान होने पर भी पैसों के अभाव में मैं अनारक्षित डिब्बे में ही सफर करता रहा। एक बार बैंगलोर में इंटरव्यू देकर मैं हैदराबाद से होता हुआ नागपुर की ओर निकला था। किसी रैली की वजह से हजारों की तादाद में प्रवासी सिकंदराबाद में घुस गए। भीड़ मच गई। रातभर एक पैर पर खड़े होकर नागपुर तक का प्रवास किया था मैंने। उन दिनों मेरी बड़ी बहन अक्का नागपुर में थी। मेरी नौकरी लग जाने के बाद जब भी रेल से प्रवास करने का मौका मुझे मिला, मुझे आम जनता के साथ प्रवास करना ही अच्छा लगा, क्योंकि सही भारत का दर्शन वहीं होता है। जीवन में जब पहली बार मुझे वातानुकूलित डिब्बे में प्रवास करने का अवसर मिला, मुझे वहाँ की निःशब्दता, आपसी दूरी बड़ी अजीब लगी। इस प्रकार की व्यवस्था मेरे मन को रास न आई। आगे जब भी कभी ऐसा मौका मिलता, मेरे सभी दोस्त (सहकारी) वातानुकूलित डिब्बे में प्रवास करते और मैं आम आदमी के साथ प्रवास का आनंद लेता था।

दिल्ली में हम दोनों एक सांसद के निवासस्थान पर ठहरे थे। संघ लोकसेवा आयोग वहाँ से नजदीक था, अतः हमें कोई परेशानी उठानी न पड़ी थी। हम जैसे अनेक लोग वहाँ ठहरे हुए थे। सांसद से कहीं अधिक रौब उनके चाटुकार ही झाड़ रहे थे। साक्षात्कार का दिन आया। मेरे जीवन में इंटरव्यू नामक चीज

नई नहीं थी, परंतु संघ लोकसेवा आयोग के सम्मुख मैं पहली बार जानेवाला था। मन में डर समाया हुआ था। उस दिन वहाँ और भी कई प्रत्याशी आए हुए थे। उनसे बातचीत करने पर मेरा मन कुछ हलकापन महसूस करने लगा। उनमें से एक युवक था नागचंद्रन, जिसने लुंगी पहनी थी और वह तमिलनाडु से आया था। मेरा साक्षात्कार कब शुरू हुआ, कब खत्म हुआ, मुझे पता ही न चला!

एक महीने बाद परिणाम आया। मैं चुन लिया गया था। बेहद खुशी का समाचार एवं अत्यधिक खुशी का दिन! उस पल, उस समय की चिंताओं से मुझे मुक्ति मिल गई थी। मेरी आर्थिक समस्या तो हल हो ही गई थी और साथ ही मैं आई.ए.एस. की तैयारी भी कर पानेवाला था। मेरी यह सफलता मेरे माता-पिता को भी चिंतामुक्त करनेवाली थी। उन्हें इसी बात की सर्वाधिक खुशी थी कि किसी के तलवे चाटे बगैर उनके लाडले को सरकारी नौकरी मिल गई थी और वह भी ऊँचे पद की! मेरे गाँव में मेरी नौकरी एक चर्चा का विषय बन गई। अलग-अलग अंदाजे लगाए जा रहे थे—किसी बड़े व्यक्ति के 'आशीर्वाद' का फल है! किसी ने अपनी बेटी के उज्ज्वल भविष्य की ओर देखकर नौकरी लगवा दी होगी आदि-आदि। इससे पहले हमारे परिसर में ऐसा ही सबकुछ होता आया था, अतः यह सारा स्वाभाविक ही था। धीरे-धीरे अटकलों का बाजार ठंडा होता गया और धीरे-धीरे से सत्य सामने आने लगा। इस सफलता से मुझे सर्वाधिक संतोष इस बात से मिला कि मेरे परिसर में बसनेवाली तरुणाई के मन में आत्मविश्वास का बल जागा। मेरे आई.ए.एस. होने के बाद तो उन्हें विश्वास हो गया और वे नई प्रेरणा से जाग्रत हो गए।

प्रशासकीय सेवा में आ जाने के बाद मुझे लगा था कि अपने गाँव के लोगों के लिए मैं कुछ ठोस काम कर पाऊँगा। दरअसल ऐसा कुछ करने के उद्देश्य से ही मैंने इस क्षेत्र को चुना था; परंतु जल्दी ही मेरे ध्यान में आ गया कि लोगों के विचारों में परिवर्तन लाना, उनका उद्धार करना आसान काम नहीं है, फिर चाहे वह एक छोटा सा गाँव ही क्यों न हो! धीरे-धीरे मार्ग दिखाई देने लगा। धीरे-धीरे विश्वास बढ़ता गया कि अपने गाँव से दूर रहकर भी मैं अपने गाँव की तरुणाई के लिए काम कर सकता हूँ। उन्हें अच्छे कामों के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। सामाजिक क्षेत्र के नए विचारों से, खेती से संबंधित तकनीक से, नई-नई राहों को अपनाने के तरीकों के प्रति उन्हें मार्गदर्शन दिया जा सकता है। शिक्षा, आरोग्य तथा खेती से संबंधित प्रचलित नए विचारों को, तकनीक को उन तक पहुँचाया जा सकता है, ऐसा विश्वास मुझमें निर्मित हो गया।

परंतु मेरे गाँव के लोगों की मुझसे सर्वथा भिन्न अपेक्षाएँ थीं। मेरे चुने जाने के बाद उन्हें लगा कि मैं उन्हें नौकरी दिलवा सकता हूँ। परिवारों के और गाँव के निजी टंटों-बखेड़ों, झगड़ों का निवारण मैं कर सकता हूँ। राजकीय टंटों में हस्तक्षेप कर सकता हूँ। साथ ही और भी कुछ कर सकता हूँ, आदि-आदि!

जीवन में कभी-कभार अच्छी अथवा बुरी घटनाओं की एक शृंखला ही शुरू हो जाती है। 'भारतीय सांख्यिकी सेवा' में चुने जाने के बाद मात्र एक महीने में मैं आई.ए.एस. की लिखित पूर्व परीक्षा में भी सफल हो गया। इससे चार महीने पहले वायु सेना में मेरा चयन हो गया था। साथ ही 'कनिष्ठ अनुसंधान छात्रवृत्ति'(जे.आर.एफ) भी मुझे प्राप्त हो गई थी। इन तमाम सफलताओं के एक वर्ष पूर्व मेरी अवस्था उस प्राणी सी थी, जो रेगिस्तान में पानी की खोज में मारा-मारा फिरता है। आई.ए.एस. की पूर्व परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाऊँगा, इसका यकीन मुझे नहीं था! उसके दस दिनों के अंदर मुझे 'भारतीय सांख्यिकी सेवा' की नौकरी में चुने जाने का पत्र मिला। मेरी भाग-दौड़ बढ़ गई। मन में सँजोए सपने की (आई.ए.एस.) पहली सीढ़ी मैं पार कर चुका था और तभी जीवन की तमाम समस्याओं का निवारण करनेवाली संजीवनी, नौकरी के रूप में मुझे मिल गई थी। बहुत ही जल्दी-जल्दी में मैंने अपनी छात्रवृत्ति से इस्तीफा दे दिया और अपने प्रिय विभाग को दोस्तों सहित 'राम-राम' भी कर लिया और निकल पड़ा!

आई.ए.एस. की मुख्य परीक्षा के लिए सांख्यिकी के साथ-साथ मुझे एक और वैकल्पिक विषय को चुनना था। मराठी साहित्य में मेरा रुझान होने की वजह से मैंने दूसरा वैकल्पिक विषय मराठी साहित्य को चुना। पुणे विश्वविद्यालय के मेरे अंतिम दिनों में संग्राम पाटील भी मेरे साथ रहने के लिए आ गया था। इसके दिमाग में भी आई.ए.एस. बनने की झक सवार हो गई, अतः वह मराठी वाङ्मय की कक्षा में जाया करता था। वैकल्पिक विषय के तौर पर किसी अन्य विषय को चुनने का कोई विकल्प मेरे सामने न था, क्योंकि अन्य विषयों की जानकारी जुटाने का न तो समय मेरे पास था और न ही साधन सामग्री जुटाने का! अतः मेरे लिए उपलब्ध साधनों सहित मैं दिल्ली खाना हो गया।

दिल्ली जाने से पहले मुझे यह जानकारी मिली थी कि मुख्य लिखित परीक्षा के लिए थोड़ा सा समय माँग लेने की सुविधा मिल सकती है। मुझे बड़ी राहत मिली। मैं अपने चचेरे भाई 'बापू' को साथ लेकर जलगाँव गया और वहाँ से दिल्ली निकल गया। 'सांख्यिकी कार्यान्वयन मंत्रालय' में प्रशिक्षण विभाग के विभागीय अधिकारी से मैंने बातचीत की। मुझे ज्ञात हुआ कि वे सचिव पद पर कार्यरत हैं, अतः उनसे मैं अत्यंत आदर से पेश आया। बड़ी मुश्किल से उन्होंने मुझे एक महीने की मोहलत दी। वैसे मुझे मुख्य परीक्षा समाप्त होने तक का समय चाहिए था, परंतु बात बनी नहीं। बाद में जब मैं इस विभाग में नौकरी पर लग गया, तब ध्यान में आया कि 'सचिव' का पद इस गहरे सागर में मात्र एक 'छोटी मछली' ही होता है।

मैं पुणे लौट आया और पढ़ाई में जुट गया। पढ़ाई के दौरान जब उस क्षेत्र का विस्तार देखा, तब मन में आशंका जागी कि क्या सारा कुछ, कम-से-कम एक

बार भी पढ़ पाऊँगा या नहीं मैं! अपने आप पर बड़ी शर्म आ रही थी। अध्ययन की पूरी सामग्री का भी अभाव था मेरे पास!

देखते-ही-देखते एक महीना बीत गया और मैं पुणे से दिल्ली रवाना भी हो गया। नौकरी में अपना पदभार भी सँभाल लिया। देश के कोने-कोने से आए प्रत्याशी बड़ी शान के साथ जी रहे थे। वहाँ का कुल वातावरण बड़ा आरामदायक था। प्रशिक्षण तो नाममात्र का था। बीच-बीच में एकाध अफसर हाजिरी लगा जाते थे और मुख्य विषय के बजाय अन्य मुद्दों पर देर तक बातचीत करते रहते। अधिकांश समय वे यही बात सुझाते रहते कि इस नौकरी में कोई दम नहीं है। नौकरी की खामियों की ओर निर्देश करते और साफ शब्दों में जताते थे कि 'आप सभी ने व्यर्थ इस नौकरी को स्वीकार लिया है और अपने आपका बड़ा नुकसान भी करवा लिया है'। उस माहौल में हमें मुश्किल से एक अथवा दो ऐसे अधिकारियों से मार्गदर्शन मिला, जो सकारात्मक विचार रखते थे।

मैं वहाँ खूब बेचैन हो गया। आई.ए.एस. की परीक्षा का विचार मन से जा न रहा था। दम घुटने लगा था। कोई मार्ग नजर न आ रहा था। मेरे एक वरिष्ठ अधिकारी ने सुझाव दिया कि कोई बहाना बनाकर छुट्टी ले लो और पढ़ाई में जुट जाओ। उनके विचार से तो मुझे परीक्षा देने के बाद ही यहाँ आना चाहिए था। दो दिनों तक मैं विचार करता रहा। आई.ए.एस. होना ही मेरा 'परम लक्ष्य' तय हो गया था। माँ की बीमारी का बहाना बनाकर छुट्टी लेने की मैंने ठान ली। समयानुसार माँ की बीमारी की फर्जी टेलीग्राम भी आ गया, जिसके आधार पर दो दिनों की छुट्टी लेकर मैंने राहत की साँस ली। उसी दरम्यान मुझे मेरा पुराना दोस्त जुनैद फारुख भी मिल गया था। उसके और मेरे वहाँ रहने की सुविधा हो गई थी। पुणे निवासी श्री मराठेजी के सरकारी निवास में हम दोनों रहने लगे।

इसके बावजूद मेरा मन अस्थिर हो गया था। मन में निरंतर यही डर सता रहा था कि यदि अपने खिलाफ कोई कार्रवाई हो जाती है, तब क्या होगा? क्या मुझे नौकरी से खारिज तो नहीं होना पड़ेगा? फिर क्या होगा, मैं विचलित सा हो गया। अध्ययन की पूरी सामग्री का न होना, पैसों का अभाव आदि परेशानियों का साथ तो था ही! फिर भी मैं दिन-रात पढ़ाई करता रहा। कभी-कभी मन में यह आशंका भी घिर जाती थी कि क्या मेरी आई.ए.एस. की उम्मीदों पर पानी तो नहीं फिर जाएगा? कहीं यह मेरे बस के बाहर की बात तो नहीं है? उसी समय मुझे मेरे विभाग से पत्र आया कि तुरंत काम पर हाजिर हो जाओ। मैं घबरा गया। पीछे लौटना मुमकिन था नहीं! मन में सोचा कि यदि यह नौकरी हाथ से निकल जाती है तो कोई बात नहीं, मैं कुछ और कर लूँगा! पुणे लौटकर अनुसंधान में लग जाऊँगा, परंतु यह परीक्षा हर हालत में देनी ही है। मेरे तत्कालीन अफसरों ने भी मुझे सबक सिखाने की ठान ली। बापू द्वारा भेजा गया

मेडिकल सर्टिफिकेट उन्होंने स्वीकारा नहीं, बल्कि मुझ पर अनुशासन के तोड़ने का आरोप लगाते हुए मुझ पर काररवाई भी की।

मेरी मानसिक स्थिति बड़ी विचित्र हो गई थी। कुछ सूझ न रहा था। उसी हालत में मैंने परीक्षा दी। कामचलाऊ पढ़ाई के आसरे ही परचे लिखे। उसी समय एक वरिष्ठ परीक्षार्थी से मुलाकात हो गई। उन्होंने समझाया कि परीक्षा देने से पहले अपने कार्यालय को सूचित करना और अनुमति लेना परम आवश्यक होता है, वरना सारा प्रयास व्यर्थ हो जाता है। कार्यालय आपकी उम्मीदवारी को रद्द करने के आदेश संघ लोकसेवा आयोग को दे सकता है। यह सुनकर तो मैं दहल गया। कुछ पलों के लिए स्तब्ध भी हो गया। उसी मनःस्थिति में मैंने बचे हुए परचे लिखे।

परीक्षा समाप्त हो जाने पर जब मैं दोबारा काम पर हाजिर हुआ, तब ध्यान में आया कि दफ्तर के मेरे सहकारी मुझसे ऐसा व्यवहार कर रहे थे, मानो मैं कोई चोर हूँ! चोरी छिपे इम्तिहान देने के लिए मैं मजबूर हो गया था। मैं जानता हूँ कि यह मेरी गलती थी, जिसका मुझे अफसोस भी रहा परंतु मुझे ऐसा करने के लिए क्या उन्होंने मुझे बाध्य न किया था? परीक्षा के बाद काम पर हाजिर होने की इजाजत वे खुशी-खुशी और सहज रूप से दे सकते थे, परंतु ऐसा हुआ नहीं! फिर मुझे भी टेढ़ी उँगली से घी निकालना पड़ा।

मेरे साथ जो कुछ भी हुआ, उसके पीछे भी कई कारण हैं। किसी की मदद करने के लिए मनुष्य की मानसिकता का रुख महत्वपूर्ण होता है। अपने अनुभवों से मैंने जाना कि इन सरकारी महकमों में यदि कोई अपनी मेहनत के बल पर आगे जाना चाहता है तो अन्य सहकारी वह सह नहीं पाते हैं। हर तरह के रोड़े डालने के लिए वे उत्सुक रहते हैं। स्पर्धा परीक्षाओं में आई.ए.एस. पद का अनन्य साधारण महत्व है। इस पद के अधिकारियों को सर्वाधिक मान मिलता है और अन्य किसी भी ओहदे से सर्वाधिक अधिकार भी उन्हें प्राप्त रहते हैं। कई बार आई.ए.एस. के पद से भ्रष्टाचार, मिथ्या अभिमान को जोड़ा जाता है, जिसके फलस्वरूप अन्य सभी महकमों के उच्चाधिकारियों के मन में इस पद पर विराजमान अधिकारियों के प्रति द्वेष की भावना उपजती है और यह भावना दृढ़ होती जाती है। मेरे प्रशिक्षणाधिकारी की भी वही समस्या रही। उन्होंने भी आई.ए.एस. होने की कई बार कोशिश की, परंतु दुर्भाग्य से वे नाकाम रहे। समय के चलते उनके मन में 'आई.ए.एस.' शब्द के प्रति नफरत पैदा हो गई। जब उन्हें इस बात की खबर लगी कि मैं गैरहाजिर रहकर परीक्षा में सम्मिलित होने गया था, वे आगबबूला हो उठे। मुझे सजा देने के उद्देश्य से उन्होंने अगली काररवाई आरंभ कर दी। बड़ी मुश्किल से मैं काम पर हाजिर हो पाया। कुछ दिनों तक मेरा वेतन रुक जाने की वजह से अगले तीन-चार महीने आर्थिक तक्लीफ को भी झेलना था।

कार्यालयीन मूलभूत प्रशिक्षण हेतु मुझे मुंबई, भोपाल, इंदौर, हैदराबाद, कोलकाता आदि जगहों का दौरा करना पड़ा था। उन दिनों मैं मसूरी में था, जब मेरी परीक्षा का नतीजा आया था। दुर्भाग्यवश मैं असफल ही रहा। दफ्तर का काम, घर का भी काम, गाँव की ओर से परिवार की चिंता, समय का अभाव आदि की वजह से मेरी पढ़ाई उचित तरीके से हो नहीं पा रही थी। जब भी समय मिलता मैं पढ़ता रहता, परंतु मेरे वे प्रयत्न कम ही रहते। मसूरी में रहकर मैंने फिर से पूर्व परीक्षा दी। मुख्य परीक्षा के नतीजे की घोषणा तथा अगले वर्ष की पूर्व परीक्षा के बीच का समय सिर्फ दो महीनों का होता है। अतः मुख्य परीक्षा के नतीजे की प्रतीक्षा न करते हुए मैं पूर्व परीक्षा की तैयारी में जुट गया। इस परीक्षा के लिए मेरा विषय संख्याशास्त्र ही था। अपने रुचि का विषय होने के बावजूद पता नहीं कैसे मेरे प्रयत्न कम पड़ गए, जिसकी कीमत मुझे चुकानी पड़ी। पूर्व परीक्षा में मैं असफल रहा। इस असफलता से मैं घोर निराश भी हो गया। अपनी क्षमता के प्रति मैं चिंतित भी हो गया। जिस दिन नतीजा घोषित हुआ, मैं कोलकाता में था। मेरा मन दुःख से भर गया और मैं अकेले ही विक्टोरिया मेमोरियल में जा बैठा, खुद का सांत्वना देता रहा। मन-ही-मन सत्य को स्वीकार लिया कि पढ़ाई के लिए न ही मैंने पर्याप्त समय दिया है और न ही इम्तिहान की कड़ी तैयारी की! किस विषय को कितना समय और महत्व देना है, इसका नियोजन भी न किया था। सिर्फ तीव्र इच्छा मात्र से आई.ए.एस. होना कदापि संभव नहीं है। सफलता प्राप्त करने के लिए सूत्रबद्ध प्रयत्नों का ही अवलंबन करना होगा और फिर से कड़ी मेहनत करनी होगी।

संघ लोकसेवा आयोग परीक्षा देनेवालों के लिए पूर्व परीक्षा अत्यंत महत्वपूर्ण सीढ़ी मानी जाती है। कड़ी स्पर्धा, बहु विकल्पीय प्रश्नों की वजह से यह बहुत कठिन मानी जाती है। इसकी परिधि भी विस्तृत है। इतिहास, अर्थशास्त्र से लेकर प्रतिदिन के विज्ञान से संबंधित प्रश्न पूछे जाते हैं। परीक्षा का सीमित समय, प्रश्नों के अति विस्तारित जवाब आदि की वजह से अच्छे-अच्छों के छक्के छूट जाते हैं। इसी वजह से अधिकांश विद्यार्थीगण पहली परीक्षा में तीन-चार बार गोता खाते हैं। परीक्षार्थियों की तादाद भी लाखों तक पहुँच गई है, अतः यदि एक-दो सवाल भी इधर-उधर हो गए तो फेल होने की संभावना भी बढ़ जाती है। एक-एक नंबर के फर्क से सौ-सौ विद्यार्थी असफल होते जाते हैं। यानी यदि 'मेरिट' मात्र एक नंबर से बढ़ती है अथवा घटती है, तब इसका असर अनगिनत परीक्षार्थियों पर पड़ता है।

मेरे जीवन का वह कालखंड मैं दोलानमान अवस्था में बिता रहा था। मन में बार-बार सवाल उठते थे कि क्या मुझमें क्षमता है भी? इस परीक्षा में क्या मैं उत्तीर्ण हो पाऊँगा भी? मैं इतना अधिक चिंतित हो गया कि दो-तीन दिनों तक सो भी न पाया! मन को गहरा आघात लगा था। मेरी ऐसी मानसिक अवस्था से मेरे सहकारियों, आस-पास के लोगों को कुछ भी लेना-देना न था। वे मुसकराते

हुए मुझे सलाह देते थे कि छोड़ो इस झंझट को! उनमें से कइयों ने असफलता के झटके भी खाए थे, अतः वे यही समझाने का प्रयास करते कि यह लड़ाई कितनी कठिन है। इसमें भाग्य का साथ होना कितना जरूरी है, आदि-आदि। मेरे वरिष्ठों को इन परीक्षाओं से ही चिढ़ थी, अतः उनसे प्रोत्साहन मिलना भी असंभव ही! कुल मिलाकर मेरे आस-पास का वातावरण मेरा आत्मविश्वास बढ़ाने में, मुझ में सामना करने की शक्ति भरने के काम में बिल्कुल व्यर्थ सिद्ध हो रहा था। मुझे पढ़ते देखकर मेरे सहकारी मेरा मजाक उड़ाते थे। कितने प्रयत्न हो गए और कितनी कोशिश बाकी है, ऐसा उलाहना भी देते! यानी कुल मिलाकर मैं 'भारतीय सांख्यिकी सेवा' में ही बना रहूँ, इस बात को वे बढ़ावा देते रहे; परंतु मेरे मन में जाग्रत् अस्वस्थता एवं प्रज्वलित दहकता अंगार इन सलाहों को मानने को तैयार न था। हर पल मुझे इस बात का अहसास होता रहा की मेरे जीवन का इच्छित गंतव्य स्थान यह कदापि नहीं है। दिनोदिन मैं अपने उद्देश्य प्राप्ति के विचारों के प्रति दृढ़तम होता गया।

□

अंतिम घोर संघर्ष

कोलकाता से दिल्ली आने के बाद मैं फिर पढ़ाई में भिड़ गया। मेरे प्रयत्नों में गति आ गई। मार्गदर्शन हेतु क्लास में जाने का निर्णय भी कर लिया। मेरे दफ्तर का प्रशिक्षण, पूर्वी दिल्ली के 'सी.एम.सी.' नामक 'संगणक प्रशिक्षण केंद्र' में चल रहा था। मेरा घर, प्रशिक्षण केंद्र तथा मार्गदर्शन (आई.ए.एस.) क्लास के बीच का फासला करीब 35 किलोमीटर का था। मैंने पूर्व परीक्षा में उत्तीर्ण होने की ठान ली अतः इतनी गहमा-गहमी में भी मैं जब भी, जहाँ भी समय मिलता, पढ़ता रहता। बस में, बस अड्डे पर, क्लास में, जहाँ भी समय मिलता, मैं अपने इच्छित कार्य में चिपका रहता। दिन भर का थका-माँदा मैं घर लौटता और अपने हाथों से खाना बनाकर खा लेता। दिन ऐसे ही बीत रहे थे।

इसी दौरान गाँव के घर की परिस्थिति में बदलाव आना शुरू हो गया था। अब मैंने कर्ज से मुक्ति पाने की दिशा में कदम बढ़ाए थे। वैसे भी तीन वर्षों की अवधि पर घर गिरवी रखा था। उसे छुड़वाना जरूरी था, क्योंकि मियाद खत्म होने से पहले इस जिम्मेदारी से मुक्ति पानी थी। अपने वेतन का अधिकतम हिस्सा मैं घर भेज दिया करता था। छह महीनों के अंदर घर छुड़वा लिया गया। फिर मैं बाकी कर्ज को पूरा करने में लग गया। तीन वर्ष लगे कर्ज से मुक्ति के लिए। अपने माता-पिता का बोझ कम करने के इस अवसर ने मुझे असीम संतोष प्रदान किया। जीवन में अपने माता-पिता को मैंने अत्यधिक लाचार, असहाय और निराश से ग्रस्त ही देखा था। सारा कर्ज पूरा हो जाने के बाद उनके चेहरे पर जो खुशी और संतोष मैंने देखा, उसमें मुझे अपने जीवन की सार्थकता के दर्शन हो गए। इसी दौरान मैं अपनी सबसे छोटी लाडली बहन प्रतिभा को महाविद्यालयीन शिक्षा हेतु जलगाँव भी भेज सका। धीरे-धीरे घर में (गाँव के) एक-एक वस्तु आने लगी। सबसे पहले खाना बनाने की 'गैस' आई। मैंने अपनी माँ को, अपने जनम से लेकर हमेशा चूल्हे पर खाना बनाते हुए देखा था। सारा दिन घर तथा खेतों में खटने के बाद जब वह लकड़ी के चूल्हे पर रसोई बनाती थी, धुएँ से उसकी आँखों से पानी झरता था। उसे यही सब करते हुए देखते-देखते मेरा सारा बचपन बीत गया था। अब वह गैस पर खाना बनाएगी, यह भावना ही मेरे मन को असीम खुशी बाँट गई। फिर घर में मोटरसाइकिल भी आ गई और देखते-ही-देखते टी.वी. भी आ गया। प्रत्येक वस्तु का आगमन अपूर्व लग रहा था, क्योंकि कुछ ही वर्ष पूर्व इन वस्तुओं को अपने घर में लाने की कल्पना करना भी हम सभी के लिए दुश्वार था।

अब मैं पूरे मनोयोग से पढ़ाई में जुट गया। 'मराठी वाङ्मय' को त्यागकर अब मैंने भूगोल को अपना लिया। पूरे ध्यान से पूर्व परीक्षा दी। अपेक्षानुसार उत्तीर्ण भी हो गया। मेरे पूर्वानुभवों ने मुझे अकेले ही नहीं पढ़ने के लिए सचेत

किया। मुंबई स्थित 'एस.आई.ए.सी. संस्थान' का नाम मैंने सुना था। वहाँ बड़ी तादाद में छात्र पढ़ने आते थे। विद्यार्थियों के बीच रहकर पढ़ने से मुझे अपनी तैयारी तथा क्षमता का अंदाजा लग जाएगा और पढ़ाई की अन्य पद्धतियों से भी परिचित हो जाऊँगा, यही मेरी चाह थी। परंतु यह बात सौ प्रतिशत सही है, ऐसा मेरा मानना नहीं है, क्योंकि वहाँ के अनुभव कुछ और ही कहते हैं।

पूर्व परीक्षा पास होते ही मैं मुंबई एस.आई.ए.सी. में दाखिल हो गया। वहाँ मेरी मुलाकात श्रीकृष्ण जोशी, दामले, गिते, राजमाने, शिंदे, सतीश पाटील, विपिन अहिरे आदि छात्रों से हो गई। वहाँ वे सभी दिन-रात पढ़ाई में मगन दिखाई देते। चौबीस घंटों के प्रति मिनट के दौरान कम-से-कम पाँच-छह लोग पुस्तकों में डूबे नजर आते थे। वातावरण स्तब्ध सा रहता था। शायद ही कोई समय व्यर्थ गँवाता होगा। 'मार्गदर्शन केंद्र' के नाम पर यह संस्थान औसतन ही नजर आया मुझे। अनुभवी विद्यार्थियों का मार्गदर्शन नए विद्यार्थियों को अवश्य होता था। इसके बावजूद पढ़ाई से संबंधित सामग्री आसानी से उपलब्ध होती थी। इन्हीं तमाम सुविधाओं के चलते संघ लोकसेवा आयोग के अध्ययन हेतु यह स्थान सर्वोत्तम माना जाता है।

एस.आई.ए.सी. के मेरे निवास के दौरान मेरे संपर्क में जितने लोग आए उनमें से कुछ व्यक्तियों का स्मरण मेरे मन में बना रहा है। उस संस्थान के अधीक्षक बाका पाटीलजी रंगीन मिजाज के व्यक्ति थे। उसी संस्थान में काम कर रही झारापकर मैडम पर उनकी खास मेहर नजर थी। पाटीलजी के केबिन में वे दोनों अकसर खुसुर-पुसुर करते नजर आते। हम छात्रों के बीच वार्तालाप अथवा चर्चा के लिए यह खास विषय अवश्य हुआ करता था, जो चाय के साथ नमकीन का मजा देता था। बुद्धिमान छात्रगण मैडम के पास साहब की और साहब के पास मैडम की प्रशंसा करने से चूकते न थे। अन्य कर्मचारियों के मन में उन दोनों के प्रति अविश्वास तथा नाराजगी की भावना होती थी। बापट मैडम हम सभी छात्रों की देखभाल एक माँ के रूप में करती थीं। उनके व्यवहार, बातचीत के जरिए, हमारे भविष्य की उन्हें लगी चिंता साफ-साफ झलक जाती थी। वे लड़कों की परेशानियों का निवारण भी करती थीं।

उस्मानाबाद से आया अभिजीत इंगले तथा धूलिया से आया संदीप खैरनार बड़े हँसोड़ लड़के थे। कॉन्वेंट में शिक्षा प्राप्त इंगले, जॉर्ज बुश से लेकर आदरणीय अटलजी तक, सभी के बातचीत की सही सही नकल करता और हँसाता था। मुँह में पान की गिलौरी दबाकर वे महाशय दिन-रात पुस्तकों में डूबे रहते। उसे भारतीय विदेशी सेवा (I.F.S.) में जाने की चाह थी। पिछले दो वर्षों के दौरान जो लड़कियाँ इस महकमे में चुनी गई हैं, वे किन-किन देशों में हैं और किस हालत में हैं, इसका पूरा ब्योरा इन महाशय को जबानी याद रहता था। संदीप खैरनार एक मनमौजी व्यक्तित्ववाला युवक था। पिछले चार वर्षों से वह अपनी लड़ाई लड़ रहा था। अब मुख्य परीक्षा का टिकट मिल जाने की वजह से

ये महाशय बेहद खुशी में थे। अफसर बनने से पहले ही 'साहबी' रौब में मस्ती में जी रहे थे। उन्हें कोई बात 'असाध्य' नहीं लगती थी। ये दोनों मेरे ही कमरे में रहते थे। श्रीकृष्ण जोशी आधुनिक भारत के कुंभकर्ण थे। यदि रात सोने में कुछ देर हो जाती थी तो महाशय दूसरे दिन दोपहर के एक बजे तक खरटि भरते। पुणे से किरण गीते मुंबई पढ़ाई के लिए आते थे। पुणे में वे महिंद्रा में नौकरी करते थे। एक ही जगह पर लंबे समय तक बैठ पाने की उनकी क्षमता थी। उनके बातचीत करने का ढंग एवं उनके द्वारा लिखे गए निबंधों का मुझे स्मरण सदैव बना रहेगा। पहली ही कोशिश में मुख्य परीक्षा तक पहुँचने वाले जीतेंद्र दामलेजी के चेहरे से हँसने का भाव सदा के लिए गायब हो गया था। मेरे इन तमाम सहपाठियों के सान्निध्य समय कैसा बीता, पता ही न चला।

आगे चलकर किरण गीते मेरे साथ ही आई.ए.एस. में दाखिल हो गए, महिंद्रा कंपनी को छोड़ दिया। प्रशिक्षण के दौरान मुझे पूरे एक वर्ष उनके साथ रहने का अवसर मिला। गीतेजी अत्यंत बुद्धिमान व्यक्ति हैं और उनके पास कमाल की व्यवस्थापन कुशलता है, प्रशासकीय चातुर्य गुण भी हैं। भविष्य में वे अपने क्षेत्र में खूब नाम कमाएँगे, इसमें कोई शक नहीं।

नागपुर से आए जितेंद्र दामले का व्यक्तित्व बड़ा प्यारा था। अत्यंत नर्म स्वभाव के इस व्यक्ति ने जी-तोड़ मेहनत की और आई.ए.एस. में सफलता पाने के सपने देखे थे। उनकी सफलता की आशा सभी को थी परंतु दुर्भाग्य से वे असफल रहे। उनका भविष्य उज्ज्वल है, यही मेरा विश्वास था। बाद में एक साल के अंदर ही वे किसी जानी-मानी आई.टी. कंपनी में कार्यरत हो गए।

श्रीकृष्ण जोशी तथा संदीप खैरनार नामक बिंदास 'आत्माओं' के बारे में आगे कोई खबर मिल न पाई। अभिजीत इंगले का जोश अंत तक बना रहा, किन्हीं कारणों से उनकी विदेश यात्रा चूक गई, परंतु अब वे सिविल जज के ओहदे पर कार्यरत हैं।

अमोल राजमाने भी परिश्रम करते रहे परंतु अंत में उनके हाथ भी असफलता ही आई। प्रशासकीय क्षेत्र में नाम ऊँचा करना और बाद में राजनीति के अखाड़े में उतरना, उनका स्वप्न था और है। इन दिनों वे अमेरिका में उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। जल्दी ही भारत लौटकर अपने लक्ष्य को साध्य करने का उनका मानस है।

प्रदीप शिंदे और सतीश पाटील सपनों की दुनिया में जी रहे थे। वे मेहनत खूब करते थे परंतु कहीं कोई कमी अवश्य रह जाती थी। वे आज भी अपनी पुरानी नौकरियों में कार्यरत हैं। ठीक इसके उलटा स्वभाव था विपिन अहिरे का। संगणक शास्त्र में इंजीनियरिंग की डिग्री प्राप्त यह लड़का सभी की प्रशंसा का पात्र था। सर्वांगीण ज्ञान, मृदु स्वभाव की वजह से वह सभी का प्रिय भी था। हम सभी को यकीन था कि आई.ए.एस. परीक्षा में वह पहले पचास सफल विद्यार्थियों में ही चमकेगा, परंतु दुर्भाग्य से तीन बार सफलता उसके हाथों से छिटक गई। वह भारतीय पुलिस सेवा में चुन लिया गया। जिन लोगों

को उसने एम.पी.एस.सी. तथा यू.पी.एस.सी. में मार्गदर्शन किया था, वे आज आई.ए.एस. अफसर बन गए हैं।

एक कटु सत्य यह भी है कि महाराष्ट्र प्रदेश से स्पर्धा परीक्षाओं में बहुत ही कम विद्यार्थीगण सम्मिलित होते हैं और असफल भी हो जाते हैं। इनकी तुलना में उत्तर प्रदेश, बिहार, तमिलनाडु से चुने जानेवालों की संख्या लक्षणीय दिखाई देती है। यह फर्क क्यों है, इसे जानने का मेरा प्रयास रहा। कई खामियाँ नजर आईं मुझे महाराष्ट्र की तरुणाई में। अधिकांश युवक अपने परिवार से तथा अपने प्रांत से इतना अधिक लगाव रखते हैं कि बाहर निकलने के अवसरों की ओर उनका अधिक ध्यान होता ही नहीं है। अपने लोगों में रहकर रुखी-सूखी खा लेना उन्हें अधिक पसंद है। दूसरी अहम बात यह भी कि जो युवक इस बेजोड़ सफलता को प्राप्त कर लेते हैं, वे देश के दूर-दराज के इलाकों में कार्यरत होते हैं, अतः उनकी बेजोड़ सफलता, जीवन-मान, ओहदा आदि से यहाँ के युवक अभिभूत नहीं हो पाते हैं। फिर उन परीक्षाओं से आकर्षण ही नहीं हो पाता है।

महाराष्ट्र निवासी जो युवक स्पर्धा परीक्षा में सम्मिलित होने का विचार रखते हैं उनमें उस परीक्षा की तैयारी में, अन्य सारा कुछ भूलकर, तल्लीन हो जाने की मानसिकता का अभाव पाया जाता है। उस आह्वान को स्वीकारने में लगनेवाले दमखम का भी अभाव पाया जाता है। मैंने इस बात को खुद अनुभव किया है कि अन्य प्रांतों से हजारों विद्यार्थीगण इस परीक्षा में सफलता पाने हेतु दो-तीन वर्षों तक अपने परिवार से दूर (दिल्ली जैसे बड़े शहरों में) रहकर निरंतर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने के कठिन प्रयास करते रहते हैं। ध्येय से जरा भी विचलित नहीं होते हैं। उद्देश्यपूर्ति के लिए लगनेवाली समस्त जानकारी को इकट्ठा करते रहते हैं। कड़ी मेहनत करते हैं। अपने उद्देश्य की ओर शुरु से ही योजनाबद्ध तरीके से निकल पड़ते हैं। यह सारी तैयारी वे तीन-चार वर्ष पहले से शुरु कर देते हैं। इन सभी प्रयासों में महाराष्ट्र के छात्र पिछड़ जाते हैं। छात्रों के बीच ज्ञान का आपसी आदान-प्रदान भी महत्वपूर्ण मुद्दा है।

मुख्य परीक्षा देने के बाद जब मैं घर लौटा, मेरे विवाह को लेकर घर में चर्चा होने लगी। आई.ए.एस. होने से पहले विवाह का विचार भी करना मैं नहीं चाहता था; क्योंकि अन्य भी कुछ समस्याएँ थीं। मेरा गाँव का घर पूरी तरह से जीर्ण हो गया था। गाँव की भौगोलिक स्थिति के अनुसार मेरा घर तलहटी में बना था, अतः उसकी दीवारें हमेशा सीलन भरी होती थीं। मयालों, खंभों में घुन लग गया था। सीलन की वजह से घर में मच्छरों, झींगुरों की भी भरमार थी। घर को ठीक-ठाक करने में बहुत खर्च आनेवाला था, अतः मैंने वहीं नया मकान बनवाने का निर्णय कर लिया। नए घर के लिए मेरे पास पर्याप्त रुपया न था, अतः मैंने कर्ज लेने की बात कही। ताई-अन्ना कर्जे के नाम से ही घबरा गए। उनकी पूरी जिंदगी कर्ज चुकाने में बीती थी। मूलधन के दुगना-तिगुना कर्ज उन्होंने लौटाया था। मैंने उन्हें समझाया कि पर्याप्त रुपया जमा करने में लंबा

समय बीत जाएगा। मैं बाकायदा बैंक से कर्ज ले रहा हूँ, वे चिंता न करें। अंत में उन्होंने मुझे इजाजत दे दी। नए मकान की कल्पना मात्र से मैं पुलकित हो गया।

प्रत्यक्ष कर्जा लेते समय मुझे कई बातों का ज्ञान मिला, जिनसे मैं अब तक पूर्णतया अनभिज्ञ था। अखबारों, टेलीविजन आदि प्रसार माध्यमों में दिखाए जानेवाले विज्ञापनों में कर्ज प्राप्त करने के प्रति जो सुलभता दिखलाई जाती है, यह काम उतना सरल कदापि नहीं है। सबसे अहम बात मेरी समझ में यह आई कि गाँव-खेड़ों में फैलीं प्राइवेट बैंक शाखाएँ सिर्फ शहरी विभाग को कर्ज देती हैं। ग्रामीण विभाग में सिर्फ सहकारी बैंकों का बोलबाला है। उन्हीं के जिम्मे ग्रामीण जनता को कर्ज देने का ठेका सौंपा गया है। अतः किसी गाँव की जरूरतों को पूरा करने का काम सिर्फ एक ही बैंक के जिम्मे होता है। सारा जिला विविध बैंकों में बँटा होता है। अतः बैंक मैनेजर की महत्ता, बी.डी.ओ. एवं दारोगा के दर्जे की होती है। अधिकतर इनका 'पर्सेंटेज' तय रहता है। यानी सरकार चाहे जितनी योजनाओं को बना ले, कर्ज उनको मिलेगा, जिसे ये लोग देना चाहेंगे। बैंकों की आपसी होड़ का जितना लाभ शहरी जनता के हिस्से आता है, वह अभी भी ग्रामीण इलाके में नहीं पहुँच पाया है। मैंने दो-तीन बैंकों के चक्कर लगाए, परंतु पहली मुलाकात में ही इनकार की घंटी बज गई। मैं निराश हो गया। अंत में एक मैनेजर साहब ने मुझे हलका सा आश्वासन दिया। मैं भी काम में जुट गया। अपने पुराने घर को पूरी तरह से गिरवाकर मैं फिर बैंक गया। मैनेजर साहब लंबी छुट्टी पर निकल गए थे। मेरे मन में आशंकाएँ घुमड़ने लगीं कि यदि मैनेजर ने कर्ज देने से इनकार कर दिया तब? कुछ शर्तों को लाद दिया तब? परंतु ऐसा कुछ हुआ नहीं। शायद मेरे प्रामाणिक सच्चे प्रयत्नों को देखकर उसे मुझ पर दया आ गई। मेरा कर्ज मंजूर हो गया। मैं बड़ा खुश था। घर बनवाने की पूरी जिम्मेदारी ताई-अन्ना पर सौंपकर मैंने जाने की तैयारी कर ली। नए निवास के निर्माण का पूरा-पूरा आनंद मेरे माता-पिता लें, इसी गहरी इच्छा के साथ मैं निकल गया।

अपने स्कूली दिनों से मैं एक विदारक सत्य देखता रहा हूँ। तहसील कार्यालय में किसी भी काम के लिए वेंडर से लेकर तहसीलदार तक बनी शृंखला, प्रतिदिन अनेक लोगों को लूटती रही है। किसी भी काम की शुरुआत वेंडर से होती है। निहित काम में लगनेवाला समय तथा 'धन' का आपसी संबंध व्यस्तानुपाती होता है। यदि इस शृंखला की ओर किसी ने आनाकानी की तो उसकी अर्जी नामंजूर हो जाती है अथवा प्रत्येक दस्तावेज के लिए उसे दस-दस चक्कर काटने पड़ते हैं। जरूरतमंद व्यक्ति बार-बार छुट्टी लेने से रहा और आने-जाने का किराया खर्च करने से भी रहा! ऐसी हालत में वह सामनेवालों की जेबें गरम करना आसान समझता है। यानी कुल मिलाकर कर्मचारीगण घूस देने पर मजबूर कर देते हैं। यह लालच भरी आदत तो अब इतनी आम हो गई है कि छोटे-छोटे कर्मचारी पहली मुलाकात में ही कह देते हैं, 'साहब की जेब गरम

किए बगैर काम नहीं होगा' ऐसा कहते हुए वे ही पैसा हड़प लेते हैं। एक जमाना था कि घूसखोरी, चोरी-छिपे होती थी, परंतु अब तो मानो सरेआम हक ही बन गया है ऊपरी कमाई का। इस यंत्रणा के खिलाफ आवाज उठानेवाले के काम की धज्जियाँ उड़ा दी जाती हैं। इस उत्पीड़न से कोई कैसे छुटकारा पाए, यह भी एक गहन समस्या हो गई है।

जब मैं घर बनवा रहा था, मेरा चचेरा भाई 'बापू' ही बाहर के काम निभाता था, अतः इस तरह की आँच मुझ तक पहुँच न पाई थी। इसी काम के दौरान एक बार मेरा पाला 'पंजीयन दफ्तर' से पड़ा। मेरी फाइल अंदर जाने के बाद मुझे संदेसा मिला कि कुछ 'पैसे' देने पड़ेंगे। मैं उसूलों का पक्का था अतः मेरा खून खौल गया। मैंने घूस देने से साफ इनकार कर दिया। अब दफ्तर में मेरे बारे में पूछताछ होने लगी। कौन है? कहाँ से आया है? काम क्या करता है आदि-आदि! अंत में बगैर पैसे दिए मेरा काम हो गया। रुपए चरने के कई चारागाह में सरकारी महकमों में बचपन से देखता आया हूँ। जब से मैंने आई.ए.एस. होने का विचार पक्का किया, उसी समय से मैं निरंतर यही सोचता रहा हूँ कि इस प्रकार की हीन मंत्रणा से हम छुटकारा किस तरीके से पा सकते हैं? इस दिशा में हम सब मिलकर क्या ठोस कदम उठा सकते हैं?

मुख्य परीक्षा हो जाने के बाद उसका नतीजा घोषित होने के दरमियान का समय करीब चार महीनों का होता है। वैसे तो सारी प्रक्रिया संगणक के माध्यम से होती है, फिर भी इतना विलंब नतीजा घोषित करने में क्यों होता है, पता नहीं! इस लंबे समय को काटना परीक्षार्थियों को बड़ा कठिन लगता है, क्योंकि भले ही परचे अच्छे लिखे होंगे परंतु सफल होने की पूरी गारंटी किसी को होती नहीं है। इसीलिए आसानी से न कटनेवाले इस समय को 'कूलिंग पीरियड' कहा जा सकता है। अधिकांश छात्रगण इस 'कूलिंग पीरियड' में अगली परीक्षा अथवा अगली मौखिक परीक्षा (इंटरव्यू) की तैयारी में लगते नहीं है। एक बार नतीजा आ गया तो बाद में इंटरव्यू के लिए करीब दस दिनों की अवधि प्राप्त होती है। फिर भाग-दौड़ मच जाती है।

इन चार महीनों के दौरान मैंने अपना सारा ध्यान अपने दफ्तर के काम में बिताना पसंद किया, क्योंकि मेरा मन कहता रहा कि तुम वेतन तो पूरा पाते हो और छुट्टी लेकर परीक्षा में सम्मिलित भी होते हो, अतः दफ्तर के काम की ओर तुम्हें अब और अधिक ध्यान देना चाहिए। वही न्यायसंगत बात होगी। एक अपराध भाव मन में जाग्रत् हो जाता और मैं पूरी मुस्तैदी से दफ्तर के काम में लग जाता। पूरे साल में जितना काम अपेक्षित होता है, उस सारे की भरपाई मैं इन्हीं चार महीनों में पूरी कर देता, अतः मेरी कार्यक्षमता की ओर उँगली उठाने का मौका न तो कभी मैंने अपने सहकारियों को दिया और न ही अपने वरिष्ठों को।

दो वर्ष के मेरे प्रशिक्षण के बाद मेरी नियुक्ति वाणिज्य मंत्रालय के 'आपूर्ति एवं निपटान महानिदेशालय' में सहायक निदेशक के पद पर हो गई। इस महकमे में आने के बाद सही मायनों में मैं अगली तैयारी में जुट गया। वहाँ जो अनुभव मुझे आए, उनका मेरे भविष्य पर गहरा असर पड़ा। प्रशिक्षण के बाद जब मैं बड़ी उम्मीदों के साथ इस दफ्तर में आया वहाँ आते ही मेरा मन घोर निराशा से भर गया। मेरे अन्य तमाम सहकारियों के दफ्तर बड़ी अच्छी अवस्था में सजे हुए थे, परंतु मेरा दफ्तर मुरगी के दड़बे जैसा गंदा, बिखरा पड़ा था। सुस्त विभाग प्रमुख, आलसी व अनुशासनहीन कर्मचारी आदि को देखकर उस माहौल में मेरा मन ही उचट गया। काम-काज का पता ही नहीं। हमारे निदेशक अशोक कुमारजी अपनी सुंदर निजी सचिवों के साथ घंटों बतियाते रहते। उन्हें अन्य अधिकारियों से बातचीत करने के लिए समय ही नहीं मिल पाता।

दिल्ली के मंत्रालय की कार्यपद्धति का मेरा अनुभव अत्यंत कटु रहा है। वहाँ मैंने पाया कि कर्मचारियों, वरिष्ठों आदि को एक-दूसरे से कुछ लेना-देना नहीं होता है। ग्यारह बजे से पहले कोई भी कर्मचारी दफ्तर में आता नहीं है। तमाम कार्यालयों में, जरूरत से कहीं अधिक कर्मचारियों को भरती करा लिया गया है। तीसरी तथा चौथी श्रेणी के कर्मचारियों का, यानी लिपिक, वरिष्ठ लिपिक, चपरासी आदि तमाम लोगों का दफ्तरों में शासन चलता है। उनकी मरजी के बगैर एक भी कागज इधर से उधर जा नहीं सकता! फाइलें अपनी जगहों से हिलती नहीं हैं। अधिकारियों को पीने का पानी भी नहीं मिलता है। इन्हीं लोगों की मनमानी दफ्तरों में चलती है। वे ग्यारह बजे अपनी ड्यूटी पर आते हैं और साढ़े ग्यारह बजे चाय पीने निकल जाते हैं। फिर साढ़े बारह तक 'गपशप' का समय होता है। एक बजे 'लंच टाइम'! उनका 'लंच' दोपहर के ढाई-तीन बजे तक चलता है। इससे पहले इन 'साहब लोगों' के दर्शन दुर्लभ जानिए। चार बजे से सारा ध्यान घर लौटने की ओर लग जाता है। 'महिला जगत्' का घर जल्दी लौटना जन्मसिद्ध अधिकार है ही। यानी शाम पाँच बजे तक करीब 90 प्रतिशत कर्मचारी दफ्तर से नदारद दिखाई देते हैं।

शुरु-शुरु में ऐसे माहौल को देखकर मैं चकरा गया था। आश्चर्य इस बात का भी लगा कि इन घामड़, अनुशासनहीन लोगों को कोई सही राह पर क्यों नहीं लाता है? सारी कार्यप्रणाली ही चेतनाहीन हो गई है। समझदार लोग इसलिए चुप्पी साध लेते हैं कि आखिर बिल्ली के गले में घंटी बाँधने की हिम्मत करे कौन? दफ्तरों में बड़ी संख्या में नियुक्त कर्मचारी, कई स्तरों पर नियुक्त उनके वरिष्ठ अधिकारी और किसी को भी अपने निहित कार्य में कोई खास दिलचस्पी न होने के कारण सारा वातावरण ही बिगड़ा हुआ है। किसी भी वरिष्ठ अधिकारी की धाक अपने जूनियर्स पर भी नहीं दिखाई देती! उच्चस्तरीय सचिवों को ऐसी स्थिति से कुछ लेना-देना नहीं। निम्नस्तरीय कर्मचारीगण इसी बात से सिरचढ़े दिखाई देते हैं। जो लोग अपनी चापलूसी के लिए लालायित रहते हैं ऐसे

अधिकारियों की खातिरदारी, ये लोग हर तरह से करते रहते हैं ताकि यदि इनके खिलाफ कोई सज्जन शिकायत दर्ज करे भी तो मामला दबा दिया जाता है। इस व्यवस्था में महत्वपूर्ण यह भी है कि सामान्य प्रशासन विभाग, मंत्रालयीन सेवाओं के अंतर्गत होने की वजह से वहाँ के कर्मचारी, दिल्ली स्थित विभिन्न मंत्रालयों में कार्यरत रहते हैं और उनके तबादले भी इन्हीं दफ्तरों में होते रहते हैं। अब इन शांति कर्मचारियों की कार्यपद्धति के आगे बड़े-बड़े अधिकारीगण भी हतबद्ध हो जाते हैं। जिन्हें मनोयोग से कार्य करने की आदत है, जो इस व्यवस्था में सुधार चाहते हैं, उन्हें यह सारा खटकता है। मन लगाकर पंद्रह-सोलह घंटे काम करनेवाले लोग इस माहौल से नाराज रहते हैं, दुःखी रहते हैं, क्योंकि व्यवस्था को बदलना उनकी क्षमता के परे है। बाकी सामान्यजन चुपचाप सहते रहते हैं और इसी व्यवस्था से जुड़े रहते हैं।

अनेक महत्वाकांक्षी मंत्रालयों में देश-भ्रमण, परदेस-भ्रमण (विदेश-भ्रमण) का कार्य जिस पद्धति से तय किया जाता है तथा इस निर्णय से जुड़े अधिकारियों तथा कर्मचारियों के दृष्टिकोण को देखकर मैं हैरान रह गया। हताश भी हो गया। किन्हीं कार्यालयों में 'ओवरटाइम' भत्ता (अलाउंस) देने की पद्धति है। अतः इन दफ्तरों में तमाम कर्मचारीगण सिर्फ 'ओवरटाइम समय' में ही काम करते दिखाई देते हैं। कार्यालयीन समय के दौरान वे सभी (90 प्रतिशत) लोग अपने निजी कामों में व्यस्त रहते हैं। कभी इजाजत लेकर अन्यथा बगैर इजाजत यही चलता है। उनके हक की जो छुट्टियाँ हैं, उनका आनंद वे दिसंबर और जून में अवश्य लेते हैं। शुरु-शुरु में मैं इस संभ्रम में पड़ जाता था कि ये मंत्रालय किस प्रकार से देश को चलाते होंगे? पर देश तो चलता ही है। ईमानदार सचिवों से लेकर निदेशकों तक के कुछ लोग भी वहाँ बसते हैं, जो अपने एक-दो सहायकों की मदद से काम को पूरा करने में लगे रहते हैं। देश इन्हीं के बलबूते पर जी रहा है, चल रहा है। ऐसे निष्ठावान लोगों की संख्या 10 प्रतिशत के लगभग होती है। बाकी जनता बिंदास होकर रामराज्य का आनंद लेते हुए मस्ती में रहती है। ऐसे वातावरण में दिल्ली के सरकारी कार्यालय में काम करना मुझे अच्छा नहीं लगता था।

मेरे दिल्ली स्थित कार्यालय की स्थिति शोचनीय थी। सरकार ने उसे बंद कर देने का निर्णय बहुत पहले ही कर लिया था, परंतु ट्रेड यूनियन के दबाव की वजह से अथवा किन्हीं अन्य कारणों से उसपर अमल न हो पाया था। अब ऐसी स्थिति में कार्यालय में प्रति कर्मचारियों के मन में कोई आस्था रह न गई थी। अपनी-अपनी झोली भरने के पीछे सभी पड़े थे। कुछ वर्षों पहले इस कार्यालय को 'भ्रष्ट' घोषित किया गया था, परंतु अब आर्थिक उदारीकरण के अंतर्गत क्रय अधिकारों का विकेंद्रीकरण कर दिया गया है। दृढ़ निश्चयी, कठोर महानिदेशक यदि आ जाते हैं, उस समय सारा काम सीधी राह पर चलता है। गलत कामों पर प्रतिबंध लग जाता है; परंतु पिछले कई वर्षों से जो कर्मचारी उसी कार्यालय

में कार्यरत हैं, उन्होंने अपनी झोलियाँ भरने के नए-नए तरीके खोज लिए हैं। कठोर परंतु नया निदेशक जब तक इसकी तह तक पहुँचे, उससे पहले ही उसका तबादला हो जाता है! और यह दुष्टचक्र इसी तरीके से घूमता रहता है।

गाँव में मेरा घर बनने के एक वर्ष बाद मैं, अपनी मुख्य परीक्षा देकर लौटा था। मेरी अच्छी नौकरी, नया घर तथा मेरी उम्र को देखते हुए मेरे विवाह की चर्चा परिवार में होने लगी। सिर्फ चर्चा ही नहीं, मुझपर दबाव भी डाला जा रहा था। निरंतर मिल रही असफलता से मैं मन-ही-मन परेशान था, परंतु इस बार मेरा आत्मविश्वास भी कुछ बढ़ा था। विवाह के बाद परीक्षाओं में सफलता प्राप्त किए कई युवकों को मैंने देखा था। नीलकंठ आव्हाड, श्रेष्ठीकर परदेसी आदि उन्हीं लोगों में से थे। वे अपने जीवन में खुश थे। मुझे भी ऐसा लगने लगा था कि विवाह का निर्णय मेरी पढ़ाई में कोई रोड़ा बन न पाएगा। इसका मुख्य कारण यह था कि मेरी आर्थिक समस्या अच्छे से हल हो गई थी। परीक्षा के प्रति आत्मविश्वास भी बढ़ गया था। पढ़ाई के दौरान मेरा जतन करनेवाला अपना कोई मेरे साथ होगा और आई.ए.एस. होने के बाद (समय के अनुसार) कोई अच्छी लड़की मिल पाएगी, इस बात का यकीन भी न था, अतः मैंने विवाह के लिए हामी भी दी।

मैं मध्यवर्गीय परिवार की, पढ़ी-लिखी, अच्छे स्वभाव की लड़की से, जो मेरी परिस्थिति को, मनःस्थिति को समझ सके, विवाह करने को तैयार था। मुझे डर था कि 'बड़े' घर से आई लड़की मेरे माता-पिता से, मेरी बहनों से स्नेहपूर्ण नाता जोड़ पाएगी क्या? मेरे मन को समझ पाएगी क्या? मेरे परिवार का एक अविभाज्य अंग बनकर खुशी से जीवन बिता पाएगी क्या? इसीलिए मध्यवर्गीय परिवार का विकल्प मैंने चुना था। कई बार मन में यह विचार भी आता था कि किसी गरीब परिवार की अपाहिज लड़की से शादी की जाए और दुनिया के सारे सुखों से उसका जीवन भर दिया जाए, परंतु यह विचार मन में ही रह गया। धीरे-धीरे मेरे लिए रिश्ते आने लगे। आस-पास के परिवारों की नजर मुझ पर लगी ही थी। मैं कब लौटकर आता हूँ और शादी के लिए तैयार हो जाता हूँ, इसी प्रतीक्षा में वे थे। गाँव का माहौल ही कुछ ऐसा होता है कि जाने-पहचाने परिवारों में रिश्ता तय किया जाता है। परंपरागत कुछ मान्यताएँ ऐसी भी थीं (हैं) कि किन्हीं विशेष गाँवों, परिवारों में विवाह का रिश्ता जोड़ना ही नहीं है। हमारे गाँव में चार कुल (घराने) बसते हैं जिनमें आपसी 'रोटी' व्यवहार अथवा 'बेटी' व्यवहार निषिद्ध माना गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि चारों 'खानदान' अपने आपको दूसरों की तुलना में श्रेष्ठ समझते हैं।

मेरे दिल्ली लौटने से पहले एक और रिश्ता मेरे लिए आया। लड़की का नाम स्मिता था। इस रिश्ते को मेरी मँझली बहन ऊषा लाई थी। मुझे लगा कि शायद मेरे लिए यही सही रिश्ता आया है। लड़की देखने के लिए मैं राजी हो गया।

मेरे चचेरे भाई 'बापू' के साथ मैं लड़की देखने उनके गाँव 'चालीसगाँव' निकल पड़ा।

बिलकुल सुबह-सुबह हम उनके घर पहुँच गए। उस घर में अपनेपन का आभास हुआ। फिर लड़की देखने की औपचारिक घड़ी भी आ गई। स्मिता साड़ी पहनकर आई थी। हमसे कुछ दूरी पर वह बैठ गई। मुझे वह स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही थी। सभी का ध्यान हम लोगों की ओर लगा था। मुझे यह भी समझ में आ रहा था कि सभी मेरी ओर इसलिए भी देख रहे थे कि मैं लड़की की ओर किस भाव से और कितनी देर तक देख रहा हूँ। संभाषण का आरंभ बापू ने किया। उसने लड़की से उसका नाम पूछा। साधारण से दो-तीन प्रश्न मैंने भी पूछ लिये और यदि उसे कुछ जानना है, तो वह भी अवश्य पूछे, ऐसा सुझाया। एक बात और भी कि स्मिता के पिता नहीं थे।

उस परिवार का माहौल और व्यवहार मुझे अच्छा लगा। लड़की की सरलता, उसका व्यक्तित्व तथा सीधी स्पष्ट बात करने का तरीका मुझे अच्छा लगा। लड़की तथा उसके परिवार में मीन मेख निकालने जैसी कोई बात हमें नजर नहीं आई। वहाँ से लौटने पर मैं तुरंत दिल्ली रवाना हो गया। मैंने लड़की पसंद होने की खबर उन्हें दे दी थी। यह सारा कुछ इतने सादे तरीके से हुआ कि पास-पड़ोसियों को पता ही नहीं चला कि 'लड़का' कब आया, कब देखा और कब रिश्ता पक्का भी हो गया! बाद में ई-मेल के माध्यम से मैंने स्मिता को अपने विगत जीवन के प्रति, वर्तमान की स्थिति के प्रति तथा भविष्य की आशाओं के प्रति अवगत करवाया। मेरी सही आर्थिक स्थिति (अड़चनें भी), अपनी आई.ए.एस. की परीक्षा तथा मेरी पत्नी के रूप में किन्हीं समस्याओं से सामना भी करना पड़ेगा, इसका सही अंदाजा भी उसे दिया और अंतिम निर्णय करने का अधिकार भी सौंप दिया। दहेज प्रथा का मैं कड़ा विरोधी हूँ। अतः दहेज लेने का सवाल उठता ही न था। मेरी परीक्षा का नतीजा आ जाने के बाद जून में विवाह करना निश्चित हो गया। जीवन के एक नए मोड़ पर अब मैं आ गया था।

मेरी बेचैनी कम न हो रही थी, क्योंकि मेरे काम से मुझे संतोष न मिल रहा था। बार-बार लगता था कि मैं व्यर्थ समय गँवा रहा हूँ। परंतु मेरे पास कोई और चारा था नहीं। मेरा सारा ध्यान मेरी परीक्षा के नतीजे पर लगा हुआ था। दिल्ली में मेरे साथ 'भारतीय सूचना सेवा' (Indian Information Services) के विजय पिंगले तथा 'भारतीय व्यापार सेवा' (Indian Trade Service) के रवि पाटील भी थे। हम तीनों प्रति शाम को तथा छुट्टी के दिन अपने इंटरव्यू की तैयारी में जुट गए। विजय की पत्नी सुषमा भी हमारी मदद करती थी। हम आपस में एक-दूसरे से सवालियों को पूछते और इंटरव्यू का अभ्यास करते। इस अभ्यास का अच्छा लाभ रहा। कम समय में, कम शब्दों में सही, सटीक जवाब देने का गुर, धीरे-धीरे हम हासिल करने लगे थे। फिर हमने सारे जवाब टेप कर लिये और उन्हें सुनना आरंभ कर दिया, तब उनके प्रस्तुतिकरण में कई त्रुटियाँ हमारे ध्यान में आ गईं। साक्षात्कार

देना और उसमें सफलता पाना भी एक कला है। जब तक आप अपने जवाबों के माध्यम से प्रश्नकर्ता से संवाद नहीं साधते, वह आपकी योग्यता को परख नहीं पाएगा, यही साक्षात्कार (इंटरव्यू) का मूल मंत्र है।

हमारे मित्र श्री नीलकंठ शेलकेजी ने इस कला में महारत पाई थी। आपकी शिक्षा, नौकरी का ओहदा, नौकरी स्वीकारने के कारण, राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय उथल-पुथल तथा आपके शैक्षिक विषयों के दायरे में ही साक्षात्कार के संदर्भ घूमते रहते हैं। तत्परता, निर्णय करने की क्षमता, अधिकारी पद में अपेक्षित सहिष्णुता, आम लोगों के लिए काम करने की तैयारी, उनकी समस्याओं के समाधानों को खोजने एवं कार्यान्वित करने की लगन तथा अन्य किन्हीं बातों का प्रदर्शन ही इंटरव्यू में अपेक्षित रहता है। शेलकेजी के मतानुसार, इंटरव्यू में वे जितना और जैसा चाहते हैं, वही हमें उनके सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिए। साक्षात्कार लेनेवाले व्यक्ति को जो सटीक जवाब आपसे अपेक्षित हैं, बस उन्हें उसी तरीके के पेश करें। यदि किसी मुद्दे पर आप उनसे सहमत नहीं भी हैं, फिर भी वह स्थान और समय असहमति के प्रदर्शन हेतु कदापि ठीक नहीं है। इस प्रकार के अनेक मुद्दों से मैं परिचित होता गया।

शेलकेजी की समय-समय पर मिली मदद, विजय-रवि के साथ की गई तैयारी की वजह से मेरा आत्मविश्वास दुगुना हो गया। अच्छे इंटरव्यू के प्रति मैं आश्वस्त होता गया। अब मैं गाँव-खेड़े से आया शर्मिला, डरा-डरा सा युवक नहीं रह गया था। पिछले तीन-चार वर्षों की मेरी असफलताओं ने तथा देशाटन ने मुझे मजबूत बना दिया था। अपनी आत्ममग्नता को त्यागकर अब मैं एक 'खुला मन' इनसान बन गया था। अत्यधिक (प्रासंगिक) भावनाप्रधान रहनेवाला 'मैं' अब किसी हद तक तटस्थ भी बन गया था। साथ ही व्यावहारिक भी! मेरे इस बदलाव का मुख्य कारण था—मेरे आस-पास का वातावरण।

मेरी समझ में यह बात अच्छी तरह से आ गई थी कि यदि मुझे लोगों में रहकर, लोगों के हित में कार्य करना है, तब मुझे अपने खास दृष्टिकोण, मानसिकता तथा व्यावहारिकता में बदलाव लाने की नितांत जरूरत है।

मैं गहरी आतुरता से अपने नतीजे की प्रतीक्षा में लगा था। वह दिन भी आ गया। मन-ही-मन लग रहा था कि 'कोई आए और धीरे से मेरे कानों में सफलता की सुखद वार्ता को दे जाए' परंतु वास्तव में ऐसा कुछ हुआ नहीं। मैं अपने कार्यालय में था। दोपहर को रवि का फोन आया कि वह पास हो गया है। मैं तुरंत लोकसेवा कार्यालय की ओर निकल पड़ा। वहाँ प्रत्याशियों की भीड़ चिपकी हुई थी। मैंने लिस्ट में नंबर खोजना आरंभ कर दिया और अपने नंबर को वहाँ पा भी लिया! एक और सीढ़ी पार होने की खुशी मुझे मिल गई। अब मेरे और मेरे ध्येय के बीच में मात्र एक सीढ़ी-इंटरव्यू का फासला था। हम तीनों ने जमकर इंटरव्यू की तैयारी शुरू कर दी। रवि पाटील का आत्मविश्वास सर्वाधिक था। हमें कभी-कभी उसकी बातों से डर भी लगने लगा था क्योंकि अंतिम

सीढ़ी पार करने से पहले ही अपने ई-मेल पते में इन महाशय ने 'आई.ए.एस.' लिखना आरंभ भी कर दिया था।

किसी भी हालत में मुझे यह अवसर अब खोना नहीं था। मैंने इंटरव्यू के प्रति और जानकारी इकट्ठा करना आरंभ कर दिया। नौकरी, जिला, निहित विषयों पर पूछे जानेवाले संभाव्य प्रश्नों को ध्यानपूर्वक पढ़ा और दोहराता भी रहा। मुख्य परीक्षा का नतीजा घोषित हो जाने के बाद दिल्ली में 'इंटरव्यू' मार्गदर्शन का बाजार गरम हो जाता है। अब जिन प्रत्याशियों को किसी भी हालत में इंटरव्यू में सर्वोत्तम प्रदर्शन की आस रहती है, वे इस बाजार के ग्राहक बन जाते हैं। एक हफ्ते के इन मार्गदर्शक कक्षाओं में हजारों रुपयों (प्रति प्रत्याशी) की आहुति चढ़ती है, परंतु ठोस आश्वासन किसी को नहीं दिया जाता है, सफलता पाने का! जिनकी हैसियत इतना रुपया खर्च करने की होती है, वे वहाँ जाते हैं, जिसका मुख्य कारण यह भी कि बाद में पछतावा न हो कि मेरी असफलता का कारण वहाँ का मार्गदर्शन न लेना ही था! हम लोग इस बाजार को 'मुरगा हलाल' की उपमा दिया करते थे।

इंटरव्यू के समय अफवाहों का, किस्सों का बाजार भी गरम रहता है। यानी हर साल चार-पाँच मेंबर्स इंटरव्यू लेते हैं। वहाँ पूछे जानेवाले प्रश्नों की अटकलें, कौन कितने नंबर देता है, इसकी अटकलें भी चरम सीमा पर होती हैं। किस प्रकार के और किस प्रकार से प्रश्न पूछे जा रहे हैं, इस बारे में खुसुर-पुसुर भी चलती है। हम लोगों का इंटरव्यू ठीक-ठाक रहा।

इंटरव्यू हो जाने के बाद प्रत्याशियों के अनुभव सुनना भी मजे की बात होती है। करीब एक महीने तक इंटरव्यू का सिलसिला जारी रहता है। उसके बाद करीब 4-5 दिनों में नतीजे घोषित हो जाते हैं। इसी दौरान स्मिता के भाई उमेश का विवाह था, अतः दो दिनों के लिए मैं घर गया था। मई की तपती धूप ने मुझे वहाँ अच्छा झटका दे डाला। मैं स्मिता से मिला भी, परंतु मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं था। शायद लू लग गई थी। उसी हालत में मैं दिल्ली लौट आया। दूसरे दिन मेरा नतीजा निकलनेवाला था।

इस अंतिम नतीजे के बाद सिर्फ आठ दिनों के अंदर अगली 'पूर्व परीक्षा- देनी' होती है। मैंने पिछली मुख्य परीक्षा तथा इंटरव्यू पूरे मनोयोग से दिया था। मेरी गहरी इच्छा यही रही थी कि नौकरी, पढ़ाई और गृहस्थी का चक्कर एक साथ न चले तो बेहतर। यदि विवाह से पहले पास हो जाता हूँ, तब जीवन का यह नया प्रवास बड़ा सुखदायी होगा। परंतु मेरा भाग्य मेरा साथ दे न पा रहा था।

रेल के लंबे प्रवास के बाद जब मैं दिल्ली स्टेशन पर उतरा, मुझे खूब थकान महसूस हो रही थी। स्वास्थ्य बिगड़ जाने के लक्षण दिखाई दे रहे थे। पिछले दो दिनों से खाना हजम न हो रहा था। उस दिन कार्यालय देर से पहुँचा मैं। मेरे सहकारी पूछने लगे कि थके-थके क्यों लग रहे हो? आँखें भी पीली नजर आ रही हैं। मुझे लगा कि पीलिया हो गया है। बार-बार अपना चेहरा मैं शीशे में देख

रहा था। दोपहर में कैटीन में कुछ खाना चाहा, परंतु कौर गले से नीचे उतरा नहीं। दोपहर के बाद विजय का फोन आया कि अभी नतीजा निकलनेवाला है। तुरंत मैं शाहजहाँ रोड की ओर निकल पड़ा। विजय एक डॉक्टर है, अतः उसने मुझे देखते ही बता दिया कि मुझे पीलिया ने जकड़ लिया है। सुनते ही मैं पसीने-पसीने हो गया। मन आशंका से घिर गया कि शायद मैं फेल होनेवाला हूँ और तुरंत आनेवाले इतवार को मैं 'पूर्व परीक्षा' फिर से दे न पाऊँगा! यानी नतीजा घोषित होने के समय मैं खूब बेचैन हो गया। जब नतीजा घोषित किया जाता है, सभी को यू.पी.एस.सी. भवन से बाहर निकाला जाता है और नतीजे के पत्रक चार-पाँच जगहों पर चिपका देने के बाद गेट को खोला जाता है। गेट के खुलते ही तमाम उम्मीदवार एकदम से अंदर की ओर दौड़ पड़े। वहाँ भीड़ जमा हो गई। मेरे बदन में ताकत न थी, अतः मैं सब के बाद नोटिस बोर्ड के समीप आया। पूरी फेहरिस्त पढ़ ली। विजय का नाम छपा था और रवि का भी! आगे एक जगह 'राजेश' का नाम पढ़ा और किसी पाटील का भी नाम पढ़ा, परंतु उस तालिका से 'राजेश पाटील' का नाम गायब था। मैं बात को समझ गया।

फेहरिस्त में विजय का नाम ऊँचे क्रमांक पर था। नतीजा देखकर मैं घर लौट आया। घर आते ही अतीव दुःख से मेरा मन आक्रोश करने लगा। इतनी कड़ी मेहनत के बाद भी हाथ आई असफलता ने मुझे पस्त कर दिया। ताई-अन्ना, स्मिता को फोन पर यह खबर दे दी। मुझे मेरा भविष्य अंधकारमय लगने लगा। मेरे अपनों ने मेरा ढाढ़स बँधाया। इससे पहले नतीजा आने के बाद मैं अगली पढ़ाई में जुट जाता था। वैसे तो इस परीक्षा में सभी को एक-दो धक्के अवश्य लगते ही हैं। परंतु इस बार मैं वाकई कुछ निश्चित सा था। परंतु इस आघात से मुझे लगने लगा कि मेरा आई.ए.एस. होने का सपना चकनाचूर हो रहा है। तिस पर यह पीलिया की मार! जब आई.ए.एस. का विचार पहली बार मेरे मन में उपजा था, तभी से मैं अपनी ताई को 'कलेक्टर की माँ' कहने लगा था। उसे बार-बार कलेक्टर ही बनने का आश्वासन भी देता था। मैं तमाम विगत यादों में खो गया।

उसी दिन रवींद्र शेलके, मुझे सांत्वना देने के लिए आया था, परंतु मेरा दुःख तिल मात्र कम न हो रहा था। सारी रात मैं सो न पाया। कितने ही विचार मन में घुमड़ने लगे थे। उस स्थिति में मेरे सामने महत्वपूर्ण आह्वान था, सात दिनों बाद की परीक्षा का फिर से एक बार वही 'पूर्व परीक्षा'! डॉक्टर ने मुझे पूरे दस दिनों तक आराम करने के लिए कहा था। गाँव में ताई-अन्ना और मेरे अपनों को मेरी चिंता सताने लगी थी। ताई मेरे पास तुरंत आना भी चाहती थी। करीब-करीब सभी ने तुरंत आई परीक्षा, न देने की सलाह दी, परंतु मेरा मन बार-बार कह रहा था कि यदि इस बार मैं परीक्षा से चूक गया तो सारी जिंदगी मुझे पछताना पड़ेगा। मैं कभी भी आई.ए.एस. हो न पाऊँगा। किसी भी हालत में मुझे यह

परीक्षा देनी ही है। इसी दृढ़ विश्वास के साथ मैंने पढ़ाई की सारी सामग्री सामने रख ली।

अगले सातों दिन मैं बिस्तर पर लेटे-लेटे पढ़ाई करता रहा और ताकत बनाए रखने के लिए निरंतर ग्लूकोज का पानी पीता रहा। वे सात दिन मेरे लिए सात वर्षों समान प्रतीत हो रहे थे। रात-रात नींद नहीं आती थी। अकेलापन और निराशा से ग्रस्त हो गया था मैं। मुझे समस्त समस्याओं का सही समाधान मेरी परीक्षा में दिखाई दे रहा था। मैं दृढ़ विश्वास एवं पूरी ताकत से पढ़ाई में भिड़ गया। अतीत में हुई त्रुटियों, गलतियों को दूर करने की ठान ली और प्रयत्नों में लग गया। स्मिता, बापू और विजय, फोन पर मेरी हिम्मत बढ़ा रहे थे। मुझे उत्साहित कर रहे थे। परीक्षा के दिन मैंने अपने साथ ग्लूकोज की तीन बोतलें रख ली थीं। परीक्षा केंद्र में जाने के बाद मुझे फिर से कमजोरी ने घेर लिया। एक जगह पर बैठ जाने के बाद मुझ में उठने की भी ताकत रही न थी। परचा लिखने से पहले मैं पूरी एक बोतल ग्लूकोज का पानी एक साँस में पी गया और लिखने में डट गया। बीच-बीच में घूँट-घूँट पानी पीते हुए मैं अपना परचा लिखता रहा। उस दिन मेरा पर्चा पिछले सभी पर्चों की तुलना में बहुत अच्छा रहा। परीक्षा के बाद मैं फिर से नए उत्साह से सँवर गया...।

□

‘माँ, मैं कलेक्टर बन गया’

पोलिया से ठीक होने में मुझे पूरे दो माह लग गए। जून के अंत में मेरा विवाह हो गया। वैवाहिक जीवन का आरंभ हमारी कुलदेवता ‘महालक्ष्मी’ के दर्शनों से हुआ। विवाह के बारे में मैं अधिक सोचता न था, क्योंकि मेरा सारा ध्यान मेरे ‘लक्ष्य’ पर ही केंद्रित था। विवाह के समय उत्साह भी अपेक्षा से कम ही रहा। सफलता मिलने तक अधूरेपन की भावना मन में बनी रही। दूसरा मुद्दा यह भी कि वैवाहिक जीवन के प्रति मन में एक तरह का संभ्रम बना रहा। आनेवाली लड़की क्या मेरे परिवारजनों के साथ सामंजस्य स्थापित कर पाएगी? हमारी समस्याओं को समझ पाएगी? परंतु स्मिता ने इन तमाम आशंकाओं को निकट भविष्य में ही सीमा पार भेज दिया। जिस प्रकार से मिश्री की एक डली पानी में घुलकर अपनी मिठास पानी को दे देती है, ठीक उसी तरह स्मिता हमारे परिवार में सहज रूप से घुल-मिल गई।

दिल्ली स्थित अफसरों की कॉलोनी ‘प्रगति विहार’ के बहुमंजिला इमारतों के समूह की एक इमारत की पाँचवीं मंजिल पर मुझे एक छोटा सा फ्लैट मिला था, जहाँ मेरी गृहस्थी का शुभारंभ हुआ। हर दिन खुशियों से भरा-भरा रहने लगा। दिल्ली आए अभी दस दिन भी न बीते थे कि मेरी पूर्व परीक्षा का नतीजा आ गया। मैं पास हो गया था। यह खुशी की खबर सिर्फ अपने परिवार तक ही सीमित रखी थी मैंने। इसका मुख्य कारण यह था कि गाँव के लोगों की समझ से बाहर की बात थी, इस परीक्षा की गरिमा। दूसरा यह भी कि मेरे पास-फेल होने से उन्हें कुछ लेना-देना भी नहीं था। यदि किसी से परीक्षा की बात कहें भी तो वे ताना मारने से चूकते न थे कि ‘अब कैसी परीक्षा? नौकरी है, शादी-ब्याह हो गया है, तब और परीक्षा क्यों देना?’

स्मिता के सहकार्य से मैं फिर से मुख्य परीक्षा की तैयारी में जुट गया। पिछली परीक्षाओं ने मुझे अनुभव बना दिया था कि किन-किन विषयों को मैं ठीक से प्रस्तुत नहीं कर पा रहा हूँ! मैंने अपनी त्रुटियों, खामियों को जानने की कोशिश की और अपने सफल दोस्तों से सलाह भी ली। अपनी कमियों की निरंतर खोज तथा उनसे पार पाने के मेरे अथक प्रयास ही मुझे सफलता की मंजिल की ओर ले जाएँगे, यह विश्वास मन में दृढ़ था, और यही मार्ग सही भी था।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह भी कि इससे पहले मेरे मन पर ‘परीक्षा’ नामक हौव्वा एक बड़ा बोझ बनकर मेरे सिर पर सवार रहता था। अपने आप से मैं बहुत सारी अपेक्षाएँ रखता था, जिसका सीधा असर मेरी परीक्षा पर पड़ता था, परंतु अब शायद पिछले अनुभवों से अथवा स्मिता के प्रोत्साहनमय सहकार से कहें, सफलता-असफलता का बोझ बहुत कम लगने लगा था। मैंने मन-ही-मन तय कर लिया कि सफलता पाने की भरसक कोशिश करना ही मेरे बस में है,

परिणाम की चिंता मुझे वहन नहीं करनी है। इसी विचार ने मेरे मन को गहरी शांति प्रदान कर दी।

दरअसल जब इस स्पर्धा परीक्षा का विचार पहली बार मेरे मन में आया और मैंने तैयारी शुरू कर दी, तब मुझे यह विश्वास सा हो गया था कि एक-दो प्रयत्नों के बाद मैं सफल हो जाऊँगा। पहली बार परीक्षा में बैठा और एक झटके में मैं जमीन पर आ गया। मेरी अपेक्षा से वह परीक्षा बहुत ही कठिन प्रतीत हुई। मेरी समझ में तुरंत आ गया कि इसके 'परिणाम' को आँकने में ही मेरी बुद्धि कम पड़ गई है। आगे प्रत्येक असफलता ने मेरा 'परीक्षा की ओर' देखने का दृष्टिकोण ही बदल डाला। यानी पहले मैं सिर्फ 'मन' से विचार करता था, अब 'दिमाग' से विचार करने लगा।

मैं असफलता के 'बहानों' को खोजने के बजाय उसकी 'कारण मीमांसा' करना सीख गया। किसी भी लक्ष्य को प्राप्त करने की राह में अनिश्चितता एक मुद्दा अवश्य होता है परंतु ध्येय-प्राप्ति के लिए नितांत आवश्यकता होती है मूलबद्ध नियोजन की और निरंतर प्रयत्नशील रहने की। जिस ध्येय को निश्चित किया है, उसे प्राप्त करने के लिए मूलभूत गुणों का अपने आप में होना भी अनिवार्य है। उचित साधन सामग्री तो आवश्यक है ही, परंतु उन साधनों का 'उच्च स्तर' भी गहरे मायने रखता है। इन तमाम बातों का अयोग्य समन्वय भी असफलता का एक कारण हो सकता है।

स्पर्धा परीक्षाओं के बारे में ऐसा कहा जा सकता है कि इसमें अपेक्षित मानसिकता, नियोजन तथा प्रत्याशी की सफलता-असफलता तय करती है। यानी इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि यदि कोई प्रत्याशी असफल हो जाता है, तो वह परीक्षा के उस खास ढाँचे में, परीक्षकों की अपेक्षानुसार खुद को ढाल न पाया है; और यह भी एक अकाट्य सत्य है कि भले ही वह 'उस' परीक्षा में असफल रहा है, जीवन के अन्य क्षेत्रों में वह असफल ही रहेगा, ऐसा कदापि नहीं है। किंबहुना इस परीक्षा की मनःपूर्वक की गई तैयारी ही प्रत्याशी के व्यक्तित्व को निखारती है। उसे मानसिक तौर पर और दृढ़ बनाती जाती है। उसे अपनी जिम्मेदारियों से और अधिक परिचित कराती है। मेरे हिसाब से, परीक्षा की अग्नि में कुछ अधिक तपनेवाला सोना और अधिक खरा सिद्ध होता है तथा अधिक दमकता भी है। वह और अधिक मजबूत भी बनता जाता है। भारतीय सनदी परीक्षा में सम्मिलित होनेवाले प्रत्याशी को भारतीय संविधान, राज्यव्यवस्था, नागरिकशास्त्र, भूगोल, अर्थशास्त्र तथा इतिहास के साथ-साथ वर्तमान राजनीति से लेकर समस्त सामाजिक विषयों का गहरा अध्ययन अनिवार्य माना जाता है। इसके फलस्वरूप उसका सर्वांगीण ज्ञान भी बढ़ता है और उसकी विचारशक्ति भी समृद्ध होती जाती है। भले ही वह इस परीक्षा में असफल घोषित होता होगा, परंतु वह एक समझदार, जिम्मेदार नागरिक तो अवश्य ही बन जाता है।

मेरी जानकारी में ऐसे कई लोग हैं जो इस परीक्षा में असफल रहने के बावजूद अपने जीवन में किसी और क्षेत्र में उन्नति के शिखर पर विराजे हैं। कोई जाने-माने पत्रकार बन गए हैं तो कुछ लोगों ने सॉफ्टवेयर या बायोटेक जैसे क्षेत्रों में महारथ हासिल कर ली है। इन क्षेत्रों में नाम के साथ-साथ खूब धन भी कमाया है। यह सब जानने के बाद मेरे मन से असफलता का विचार ही सीमापार होने लगा। मेरा मन भी हलका हो गया।

आज के वर्तमान में जीवनयापन हेतु बहुत सारे नए-नए क्षेत्र उपलब्ध हो गए हैं। पुराने जमाने जैसा यह अवसर अब सिर्फ प्रशासकीय सेवाओं तक सीमित नहीं रह गया है। अब तो कितने ही क्षेत्र सर्वार्थ से समृद्धि देने में सक्षम हो गए हैं। अब यदि हम खेती से जुड़े कार्यों को ही देखें तो वहाँ फूड प्रोसेसिंग, एग्रो मार्केटिंग, बायो टेक्नोलॉजी में अनेक अवसर उपलब्ध हैं। बड़े शहरों में आई.टी., होटलिंग, रियल एस्टेट तथा अन्य सर्विस क्षेत्रों में भी अच्छे अवसर उपलब्ध हैं। ये सभी क्षेत्र होनहार तरुणाई की प्रतीक्षा में हैं। अंत में राजनीति का क्षेत्र तो है ही! गली से लेकर दिल्ली तक, इस क्षेत्र में पूरी ईमानदारी, कड़ी मेहनत तथा सच्ची लगन से मनःपूर्वक कार्य करनेवाले उम्मीदवारों की वाकई प्रतीक्षा है। लोगों के लिए दूरदर्शिता तथा समायोजकता से विचार करनेवाले युवक-युवतियों की नितांत आवश्यकता है। भले ही प्रशासन में कार्य करने का मौका चूक गया हो, अन्य बहुत सारे क्षेत्र तरुणाई के आगमन में आँखें बिछाए बैठे हैं। सर्वार्थ से अपने देश को उन्नति के पथ पर आगे बढ़ने में ही सच्चा पुरुषार्थ सिद्ध होता है।

विवाह से पहले मेरी आदतें अलग थीं। घर लौटने पर खुद ही खाना बनाओ और खुद ही सारा काम करो और साथ-साथ पढ़ाई भी करो। परंतु अब हालात बदल गए थे। मुझे परीक्षा की अब चिंता अवश्य थी, परंतु अब उसका बोझ नहीं रहा था। अब समय से अच्छा भोजन करना। जितना आवश्यक है, उतना आराम करना और डटकर पढ़ाई करना, मेरी दिनचर्या बन गई थी। इसका मुख्य कारण था स्मिता का आगमन! उसके हाथ का बना बढ़िया भोजन आदि-आदि। परंतु वह शायद परेशान हो जाती होगी, क्योंकि विवाह के मात्र दस दिनों के बाद से ही मुझे पढ़ाई में जुट जाना पड़ा था। खैर।

परीक्षा के लिए एक महीने पहले अच्छी पढ़ाई हेतु मैंने छुट्टी लेनी चाही, परंतु मुझे हमेशा मदद करनेवाली मेरी वरिष्ठ अधिकारी 'मिठाई' जी ने छुट्टी देने से साफ इनकार कर दिया। मेरी तो नींद ही हराम हो गई। बगैर छुट्टी के पढ़ना नामुमकिन लग रहा था। मैं बड़े बेमन से दफ्तर जाया करता था। उस घड़ी में मेरे सहकारियों ने मेरी खूब मदद की। दफ्तर तो मानो मछली बाजार प्रतीत होना था। दिन भर लोगों का आना-जाना लगा रहता। इच्छुक व्यक्तियों से बोलना भी पड़ता था। सारा दिन यूँ ही बीत जाता। शाम को घर आने के बाद मिलनेवाला समय पढ़ाई के लिए पर्याप्त नहीं होता था। जैसे-जैसे दिन बीतने

लगे, मेरी बेचैनी बढ़ने लगी। निराशा भी बढ़ने लगी। कुछ तो उपाय खोजना ही था, क्योंकि मेरा मन बार-बार कह रहा था कि 'यदि इस बार नहीं...तो कभी भी नहीं!' अंत में मैंने बीमार होने के बहाने छुट्टी की अर्जी दे दी। कोई अन्य विकल्प मेरे पास था ही नहीं। झूठ बोलने की तकलीफ भी हुई, परंतु आई.ए.एस. के लक्ष्य हेतु मैं कोई समझौता नहीं करना चाहता था।

मुझे छुट्टी न देने के कई कारण थे। इस विभाग में आने के पश्चात् मैंने बहुत सारे काम कर लिये थे। मेरे विभाग के समस्त प्रकाशन, सीडी रोम के माध्यम में उपलब्ध करवा दिए थे। मैंने बंद पड़ गए रिपोर्ट्स का काम शुरू करवाकर उसका संगणकीकरण भी करवा दिया था। मेरे अपने तमाम महत्वपूर्व काम मैंने समय से पहले पूरे कर लिये थे। दुर्भाग्य से मेरे वरिष्ठ नहीं चाहते थे कि मैं परीक्षा दूँ और तरक्की पाऊँ! उनकी यह प्रतिक्रिया मुझे अपेक्षित ही नहीं थी।

दिल्ली में मेरी मुलाकात खानदेश निवासी श्री विनायक चव्हाण से हो गई थी। वे गुप्तचर विभाग में कार्यरत थे। मेरे इस मित्र ने मेरा खूब साथ निभाया। कार्यालयीन समय में पढ़ाई करने का गुर उन्होंने मुझे सिखाया। उनके हँसोड़ तथा मजाकिया स्वभाव ने मुझे बड़ी अच्छी सीख दी। अपने आपकी उनसे तुलना करने पर समझ में आया कि मैं जीवन का सही आनंद ले नहीं पाता हूँ। मेरा सारा ध्यान सदैव या तो अपनी समस्याओं में अटका रहता था अथवा सफलता के शिखर के चारों ओर मँडराता रहता था। इन्हीं बातों में मैं अपनी सारी शक्ति खर्च कर रहा था। यह आचरण वाकई बड़ा ही तकलीफदेह था। विनायकजी से मैंने जीवन की ओर, अपनी समस्याओं की ओर सकारात्मक दृष्टि से देखना सीखा। हँसते-खेलते उन पर मात करना सीखा।

अब परीक्षा के मैदान में अंतिम लड़ाई शुरू हो गई। प्रतिपल मेरा हौसला बढ़ता गया। आत्मविश्वास भी बढ़ता गया और देखते-ही-देखते परीक्षा समाप्त भी हो गई। जैसे ही परीक्षा से छुट्टी पाई, मेरे घर में मेहमानों का आना-जाना शुरू हो गया। हम भी सभी का स्वागत आवभगत अच्छे से कर रहे थे। गाँव से भी मेरे अपने सभी आए थे। एक समय ऐसा भी था कि विवाह और गृहस्थी की कल्पनामात्र मुझे परेशान कर जाती थी। एक डर-सा समाया था मन में! डर इस बात का कि कैसे चला पाऊँगा मैं अपनी गृहस्थी? माता-पिता की इच्छाएँ, आकांक्षाएँ कैसे पूरी कर पाऊँगा मैं? ऐसे विचारों से घिर जाता था मैं। परंतु अब सबकुछ ठीक से चल रहा था। समस्याएँ आतीं रहीं, निवारण भी होता रहा।

दिल्ली में अब हमारा जीवनस्तर ऊँचे दर्जे का हो गया था। जिस बदलाव की मुझे अपने बचपन में, अपने गाँव में कल्पना करना भी असंभव था, वह आज प्रत्यक्ष रूप से हमारे लिए उपलब्ध हो गया था। दिल्ली जैसे जाने-माने शहर के केंद्रीय इलाके में मिला निवासस्थान! वहाँ की तमाम महत्वपूर्ण इमारतों एवं प्रेक्षणीय स्थलों को भेंट देने का अच्छा अवसर मिला था हमें। जब जी में आया, हम अपने मेहमानों के साथ राजघाट, इंडिया गेट तथा अन्य महत्वपूर्ण स्थलों

को देखने चले जाते। जीवन का सही आनंद ले रहे थे हम सभी। मेरे लिए परम संतोष की बात यह रही कि मैं अपने ताई-अन्ना को समूची दिल्ली के दर्शन करवा सका। उन्होंने कभी भी इस बात की कल्पना भी न की थी कि वे कभी दिल्ली भी जाएँगे। ताई ने हमारे साथ प्रत्यक्ष रूप से गणतंत्र दिवस की परेड भी देखी। राजपथ के उस शाही वैभव को देखकर उसकी आँखें नम हो गईं।

ये खुशी भरे दिन तेजी से बीत रहे थे। एक दिन स्मिता की सेहत अचानक बिगड़ गई, परंतु सेहत का यह बिगड़ना हमारे लिए खुशी का संदेशा लेकर आया था। हमारे घर में नया मेहमान आनेवाला था।

मुख्य परीक्षा के बाद के तीन महीने देखते-ही-देखते बीत गए और तब मुझे नतीजे की चिंता सताने लगी। मैं 'इंटरव्यू' की तैयारी में जुट गया। इस बार तैयारी मुझे अकेले ही करनी थी। पिछली बार रवि तथा विजय का साथ था। अपने विगत अनुभवों के सहारे मैंने तैयारी में भी बदलाव कर लिया था। पिछली बार की गई गलतियों एवं नए संदर्भों का ठीक तरह से विश्लेषण भी कर लिया। अपने अभ्यास हेतु एक-दो जगहों पर इंटरव्यू भी दिया। उस समय परीक्षकों की प्रतिक्रिया कुछ खास दिखाई न दी, परंतु मैं अपनी तैयारी पर खुश था। मेरा आत्मविश्वास बढ़ गया था।

नतीजा निकलने का दिन भी समीप आ गया। यू.पी.एस.सी. की किसी भी परीक्षा के प्रति हमेशा अनिश्चितता की भावना बनी रहती है। जो प्रत्याशी पूरी तैयारी के साथ परीक्षा देते हैं, वे भी जब तक अपना नंबर 'उस' नोटिस बोर्ड पर खुद देख नहीं लेते हैं, उन्हें अपनी सफलता पर यकीन नहीं होता है।

मेरे साथ भी कुछ ऐसा ही घटित हो रहा था। मैं हमेशा की तरह कार्यालय में गया था। अपने वरिष्ठों के साथ एक मीटिंग में बैठा था मैं। वैसे मैं वहाँ बैठा अवश्य था, परंतु मेरा मन निरंतर यू.पी.एस.सी. इमारत के चारों ओर मँडरा रहा था। प्रति पल मन में अनेक आशंकाएँ घुमड़ने लगी थीं। असफलता की कल्पना मात्र से मेरा गला सूखा जा रहा था। तभी मीटिंग में मुझे किसी ने कोई प्रश्न पूछा। उस लंबे-चौड़े सवाल को सुनने के बाद भी मैं शून्य भावना से प्रश्नकर्ता की ओर सिर्फ देखता ही रहा! मेरे वरिष्ठों से रहा न गया और वे मुझे मेरी सेहत के बारे में पूछने लगे। उस समय भी मन में यही संभ्रम बना रहा कि 'नतीजा निकले भी, और न भी!'

दोपहर में मैंने इंटरनेट पर यू.पी.एस.सी. की साइट देखनी चाही पर वह किसी कारण से खुल नहीं पाई। मैं किसी गलतफहमी में निराश सा हो गया। अनायास ही मेरे कदम यू.पी.एस.सी. की इमारत की ओर बढ़ने लगे। जिस उम्मीद से, जिस आत्मविश्वास के साथ मैंने परीक्षा दी थी, वह सब इस पल घुलने लगा और पिछली तमाम असफलताओं का भूत मेरे सर पर सवार हो गया। नोटिस बोर्ड को दूर से देखने के पल से, उसके निकट पहुँचने के बीच मेरे मुख से अनायास ही कुछ शब्द निकल पड़े। मेरी नजर अब मेरा नंबर खोजने लगी। इच्छित नंबर

वहाँ लिखा पाया मैंने और...और एक गहरी साँस भी ली। अपनी जेब से परीक्षा दालान का पास निकाला और उस पर लिखे नंबर को ठीक से जाँच लिया और टकटकी लगाए उसे देखता ही रह गया मैं...!!!

तुरंत कुछ ही दिनों में इंटरव्यू की तारीख भी घोषित हो गई। नए युद्ध की रणभेरी गूँजने लगी। बरसों से चल रहे इस युद्ध के निर्णायक पल की प्रतीक्षा मुझे भी थी। मुझे सफलता की ही प्रतीक्षा थी।

इंटरव्यू के दौरान मुझे तरो ताजा बनाए रखने के लिए, इंटरव्यू के पिछले दिन स्मिता ने रात में मेरे चेहरे की शास्त्रीय पद्धति से मालिश कर दी थी। रात में शांति से गहरी नींद सोया मैं। सुबह तैयार हुआ और यू.पी.एस.सी. में दाखिल हो गया। मन खूब हलकापन महसूस कर रहा था। नतीजे के मुद्दे को मैंने अपने दिमाग से सीमा पार कर दिया था और डर भी कोसों दूर भाग गया था। अब तो मुझे जैसे यही आतुरता लगी थी कि कब इंटरव्यू शुरू हो जाए और मैं सवालियों के सही, सटीक जबाब दूँ और सफलता प्राप्त करूँ!

मेरा इंटरव्यू अपेक्षाकृत अच्छा रहा। शुरुआत में सामान्य प्रश्न पूछे गए। मैं भी शांति से जवाब देता रहा। बाद में किन्हीं विशेष प्रश्नों का दौर आरंभ हो गया। मुझे भी इस बात का पूरा भान था कि ये खास प्रकार के प्रश्न क्यों पूछे जा रहे हैं! मैं उनके जबाब संतोषजनक तरीके से दे पाया। अपने पिछले अनुभवों ने मुझे सजग कर दिया था। मेरी नियोजनपूर्वक पढ़ाई, मेरा अवलोकन एवं उम्र के साथ परिपक्व हुए मेरे सयानेपन ने मेरा खूब साथ निभाया। अपने मन के मुताबिक मैं सवालियों के सही समाधानों पर प्रकाश डालने में सक्षम रहा, ऐसा आज भी मुझे लगता है।

इंटरव्यू के बाद के दिन भी तेजी से बीत गए और नतीजा घोषित होने का दिन भी आ गया। बाद की घटनाओं के वर्णन से पहले मैं 'भारतीय सनदी परीक्षा' के बारे में पाठकों से कुछ कहना चाहता हूँ।

'भारतीय सनदी परीक्षा' की प्रक्रिया में साक्षात्कार यानी इंटरव्यू की सीढ़ी महत्वपूर्ण मानी जाती है। आम तौर पर लिखित परीक्षाओं में प्रत्याशियों द्वारा अर्जित अंकों में कोई खास फर्क होता नहीं है, परंतु प्रत्याशी का फेहरिस्त में आनेवाला स्थान उसके इंटरव्यू पर निर्भर करता है। अतः इसकी तैयारी हेतु मैंने अपनी निजी समस्याओं तथा समाज से संबंधित समस्याओं के प्रति चिंतन-मनन किया था। अपने आप को प्रशासन का ही एक हिस्सा मानकर, समाज से संबंधित समस्याओं का निराकरण मुझे किस तरीके से करना है, इसका निरंतर विचार मेरे मन में रहा था। इंटरव्यू के समय मैंने अपने इन्हीं बिखरे से विचारों को सूत्रबद्ध करते हुए प्रस्तुत किया था।

प्रशासन में उपजे भ्रष्टाचार के प्रति इंटरव्यू में सवाल अवश्य पूछा जाते हैं। आज के वर्तमान में भ्रष्टाचार भी सामाजिक जीवन का एक अभिन्न अंग बना बनाया गया है और वह विविध वेष्टनों में लिपटाकर पेश किया जाता है। सर्विस

चार्ज, सुविधा उपलब्ध कराने की फीस, इनाम आदि के रूप में यह सरकारी, अर्ध-सरकारी, निजी क्षेत्रों में पूरी तरह से फैला हुआ है। मध्यवर्गीय परिवार में भ्रष्टाचार को अधिक प्रोत्साहन मिलता दिखाई देता है। अनुचित मार्गों से धन जोड़नेवाले लोगों को भी सम्मान दिया जाता है। उसकी उन्नति के मुलम्मे की भी प्रशंसा होती है। निजी कंपनियों में भ्रष्टाचार को अधिक बढ़ावा मिलता है। सरकारी क्षेत्रों में वह स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, परंतु निजी क्षेत्रों में वह गुप्त स्तर पर चलता है। इसके अलावा चिकित्सा क्षेत्र में, वकीली पेशे में तथा सेना विभागों में तो यह बहुत बड़े प्रमाण में फैला नजर आता है।

भ्रष्टाचार से यदि मुकाबला करना है तो इसके अनेक स्तरों पर प्रत्येक व्यक्ति को इस संग्राम में शामिल होना पड़ेगा। मेरे विचार से अपने से संबंधित क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति अपना योगदान अवश्य दे सकता है। मैंने अपने बारे में कुछ नियमों को तय कर लिया था, जिनके अनुसार ही मेरा व्यवहार होता। मैंने 'जीरो टॉलरेंस' रखा था, कार्यालयीन कार्य में सूत्रबद्धता तथा पारदर्शिता का समावेश किया था, जो भ्रष्टाचार को रोकने के कामयाब गुर हैं। कार्यालय से दी जानेवाली प्रत्येक सेवा के समस्त स्तरों से सभी लोग यदि पूरी तरह से परिचित हैं, साथ ही प्रत्येक स्तर पर लगनेवाला समय और काम की पूर्ति हेतु लगनेवाली जानकारी उनके पास है, तब बिना किसी शिकायत के लोगों को सेवाएँ प्राप्त हो सकती हैं। इससे भ्रष्टाचार पर भी प्रतिबंध लग सकता है। प्रशासन की ओर से जो गुप्तता, अनजानापन बरता जाता है, लोगों के पास जानकारी का अभाव होना ही भ्रष्टाचार को हवा देता है।

प्रशासन में छाए राजकीय हस्तक्षेप को भी बड़ा हौआ माना जा रहा है। शुरु से ही इस विषय के बारे में विभिन्न बातें सुनाई देती रही हैं। मेरे विचार से अधिकारियों तथा राजनीतिज्ञों के आपसी मतभेदों का मुख्य कारण है आपसी मन-मुटाव तथा अपने-अपने बड़प्पन की भावना। यदि जनता का हित ही एकमात्र उद्देश्य मान लिया जाए तो सारी समस्याओं का समाधान हँसते-खेलते आसानी से मिल जाने में कोई कठिनाई होगी नहीं। वयस्क व सच्चे नेताओं को अपने अनुभवों की वजह से जनता की समस्याओं का अच्छा ज्ञान रहता है, अतः उनसे बातचीत की जाए, सलाह-मशविरा किया जाए तो मेरे विचार से सभी को बड़ा लाभ होगा। किन्हीं मूलगामी मूल्यों को ध्यान में रखते हुए यदि उनसे बातचीत की जाए, सलाह-मशविरा किया जाए तो मेरे विचार से सभी को बड़ा लाभ होगा। किन्हीं मूलभूत मूल्यों को ध्यान में रखते हुए यदि हम उनके हमारे बीच एक 'लक्ष्मण रेखा' खींच लें तो काम और आसान रहेगा। शुरु से ही यदि हमारी क्षमताओं का उन्हें सही अंदाजा हो जाता है, तब अनचाहा फिजूल दबाव भी अपने आप कम होगा, ऐसा मेरा विश्वास रहा है। कुल कार्य के 90 प्रतिशत कार्य में कोई हस्तक्षेप करेगा, ऐसा मुझे लगता नहीं है। इसके अलावा शिक्षा का क्षेत्र, चिकित्सा, खेती, महिलाएँ तथा दलित एवं आदिवासी लोगों

की समस्या जैसे दुर्लक्षित क्षेत्रों में ठोस कार्य करने के बहुत सारे अवसर आज उपलब्ध हैं, इसमें कोई शक नहीं।

इंटरव्यू की तैयारी करते समय खेती तथा खेती से जुड़ी समस्याओं पर गहन विचार किया मैंने। बचपन से जो वास्तविकता मैं देखता रहा हूँ, अनुभव करता रहा हूँ, वह सत्य तथा पढ़ाई के माध्यम से प्राप्त किए गए आर्थिक तथा अंतरराष्ट्रीय खेती विषयक तथ्यों के ज्ञान ने मुझे इन समस्याओं के मूलभूत कारणों से परिचित करवाया।

किसानों की तमाम समस्याओं का मूल कारण है उनका असंगठित रहना। उपरी तौर पर (काम के समय) भले ही वे संगठित नजर आते हैं, परंतु व्यवसाय के स्तर पर वे असंगठित ही हैं। छोटा किसान, मझोला किसान और बड़ा किसान, इनकी समस्याओं एवं हित संबंधों में गहरी भिन्नता है और कभी-कभी ये दोनों मुद्दे परस्पर विरोधी भी प्रतीत होते हैं। इनकी इन्हीं समस्या के आधार का जरूरत से अधिक लाभ लेते हैं दलाल, व्यापारी तथा कृषि केंद्र संचालक आदि लोग। सत्य तो यह है कि किसानों के बल पर ये अपना जीवन यापन करते हैं। किसानों का अज्ञानी तथा असंगठित होना ही इनके लिए सर्वाधिक लाभदायक मुद्दा सिद्ध होता है। यानी जो दलाल, व्यापारी तथा कृषि केंद्र संचालक पहले वर्ष सारा सौदा पैदल चलकर करते थे, वे अगले वर्ष मोटरसाइकिल पर घूमते हैं और उसके अगले वर्ष उनके नसीब में मोटर भी आ जाती है; और बेचारा किसान अपनी टूटी चप्पल भी मोची से हर साल दुरुस्त करवाकर तीन वर्ष तक अपना काम चलाता है।

यदि गाँव का किसान वर्ग बचत समूह अथवा सहकारी संस्थानों के मारफत संगठित हो जाता है, तब समस्याएँ आसानी से हल हो सकती हैं। इस संगठन के अंतर्गत कुछ किसान, सभी किसानों को समय से बीज व खाद उपलब्ध करवाएँगे। कुछ किसानों की जिम्मेदारी होगी कि वे खेती के नए तकनीक से तमाम खेतिहर भाइयों को अवगत कराएँगे और उनकी आवश्यक मदद भी करेंगे। संगठित गुट के बाकी लोग 'उपज' के लिए बाजार से संबंधित जिम्मेदारी भी उठाएँगे। ऐसा करने से उनकी भावतौल करने की क्षमता बढ़ेगी और उन्हें लाभ भी होगा। खेती से संबंधित तमाम इकाइयों की पूर्ति यदि समय से हो जाती है, तब किसान बाजार के प्रति तथा माल के भाव के प्रति आश्वस्त भी होगा और दुगुने उत्साह से अपने-अपने काम में भी जुट जाएगा।

आर्थिक उदारीकरण की वजह से उद्यम क्षेत्र का पलड़ा भारी हो गया है, परंतु सारी जनता से संबंधित खेती के 'व्यवसाय' की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। इस क्षेत्र की उन्नति के लिए कई आकर्षक योजनाएँ, आकर्षक आँकड़ों सहित घोषित होती हैं। परंतु खेतिहर भाइयों तक वे सिर्फ संस्थात्मक ढाँचे के अभाव पहुँच नहीं पाती हैं। वे पहले ही गायब हो जाती हैं। कई बार यह बात भी ध्यान में आती है कि खेती से संबंधित क्षेत्रों में लगी बीमारियों का

सही अकसीर इलाज करने के बजाय ऊपरी तौर पर सिर्फ मरहम-पट्टी ही की जाती है। जागतिक व्यापारी संगठन के निषेध के पश्चात् सरकार का, खेती से संबंधित बातों पर नियंत्रण कम हो गया है, जिसके फलस्वरूप गरीब किसानों की लाचारी तथा पोषण में बढ़ोतरी हो गई है। बजट बनाने से पहले अर्थमंत्रीजी तमाम क्षेत्रों के प्रतिनिधियों को चर्चा हेतु आमंत्रित करते हैं, परंतु उन्होंने कभी किसानों के साथ भी चर्चा की है, ऐसा दिखाई नहीं देता है। शायद इसीलिए कपास पर 20 प्रतिशत और सेकंड हैंड मोटरकार पर 130 प्रतिशत आयात शुल्क वसूला जाता है।

राजकीय क्षेत्र में फैला भ्रष्टाचार एवं कुव्यवस्था ही समझदार एवं सज्जन नागरिकों की दृष्टि से गंभीर समस्या है। दिन-ब-दिन धन तथा गुंडागर्दी का महत्व राजनीति में बढ़ता जा रहा है, जिसके फलस्वरूप समाज का समझदार एवं ज्ञानी वर्ग अपने आप को राजनीति से दूर रखना ही पसंद करने लगा है। इसका समाज पर पड़ा असर यह स्पष्ट करता है कि देश के जाने-माने महाविद्यालयों, शिक्षा संस्थानों से सफलता प्राप्त किए युवक-युवतियाँ या तो विदेशों में निकल जाते हैं अथवा अपनी बुद्धि का उपयोग कंपनियों के हित में करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में पुश्तैनी राजकीय विरासत पाए लोग अथवा धनिक परंतु बदनाम गुंडा प्रवृत्ति के लोगों का ही चारों ओर बोलबाला दिखाई दे रहा है। सरपंच के पद से लेकर संसद् के चुनावों में बेहिसाब धन खर्च होता है और फिर उसी खर्च की वसूली दुगुनी-तिगुनी कीमत से करने के लिए सरकारी यंत्रणा को दुरुपयोग में लाया जाता है। यहाँ रक्षक ही भक्षक हो जाने की वजह से सामंतशाही को अनायास ही मौका दिया जाता है और भ्रष्टाचार अपनी सीमा भी लाँघ जाता है। लोकतंत्र के इस घिनौने प्रदर्शन की वजह से ही नक्सलवाद, आतंकवाद तथा समाज विरोधी के कारनामों को बल मिलता है।

मेरे प्रशासन में प्रवेश करने से पहले ही इन सभी मूलभूत प्रश्नों का सच मेरे सामने मुँह बाए खड़ा था। इन प्रश्नों के साथ-साथ और भी कई समस्याओं पर मैंने सच्चाई से एवं गहराई से विचार किया था, अतः इंटरव्यू के प्रति मेरे मन से डर निकल गया था। प्रत्येक प्रश्न की सर्वांगीण स्पष्टता मेरी समझ में आ जाने की वजह से मैं इन प्रश्नों के जवाबों के लिए तैयार था। अपने खुद के प्रति लिये गए निर्णयों की भी मेरे मन में स्पष्टता थी। इन तमाम सकारात्मक विचारों की वजह से, इंटरव्यू के प्रति मेरा आत्मविश्वास भी बढ़ा हुआ था।

और मैं आपसे कह रहा था कि अंतिम नतीजे का दिन भी आ गया। वह दिन भारतीय महीनों के हिसाब से 'आखा तीज' का दिन था। खानदेश में इस त्योहार को बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। लड़कियाँ अपने मायके आती हैं। पेड़ों पर लंबे रस्से के झूले पड़ते हैं। जिन पर झूलते हुए वे पारंपारिक गीत गाती हैं। मेहंदी रचाई जाती है। पकवान बनते हैं। सालदारों का नया वर्ष आखातीज से शुरू होता और एक खास बात यह भी कि इस त्योहार के दिन सभी छोटे-बड़े

लोग ताश अवश्य खेलते हैं। बड़ा मजा आता है। इसका आनंद अपने गाँव में मैंने भी खूब लिया है।

बस यही शुभ दिन सरकार ने भी चुना था, नतीजा घोषित करने हेतु। स्मिता ने सुबह-सुबह ही खास मराठी पकवान 'पुरणपोली' बनाई थी। सुबह से मन कुछ अस्थिर-सा हो गया था, परंतु डर अथवा अनिश्चितता की भावना कदापि नहीं उपजी थी। अच्छी रैंक से पास हो जाऊँगा, ऐसा ही लग रहा था। भोजन करते समय भी यही विचार मन में आ रहा था। भोजन के पश्चात् मन किसी भी बात में लग न रहा था। तब मुझे 'यू.पी.एस.सी. भवन' जाने की सलाह स्मिता ने दी और मैं तुरंत निकल पड़ा। वहाँ दो घंटे प्रतीक्षा करनी पड़ी, जिसके दौरान पिछले अनुभवों ने मन में आशंका पैदा कर दी थी। लेकिन इन आशंकाओं का स्थान आत्मविश्वास ने ले लिया।

हमेशा की तरह इंतजार में (परेशान) प्रत्याशियों को गेट से बाहर निकाला गया और चार-पाँच नोटिसबोर्डों पर नतीजे की प्रतियों को चिपकाया गया। फिर जैसे ही गेट खोला गया, सभी उम्मीदवार एकदम से अंदर दौड़ पड़े। मैं पीछे ही रह गया था; परंतु भीड़ छँटने तक संयम रखना मेरे लिए बड़ा मुश्किल हो गया। अंत में मैं भीड़ में घुसा और अपनी मुंडी उठाकर बोर्ड के नंबर पढ़ने लगा। उस तालिका में अपना नाम पढ़कर तो जैसे एक पल के लिए मेरी धड़कन ही रुक गई। मुझे वहाँ अपने नाम के अलावा किसी और का नाम भी दिखाई नहीं दे रहा था। मेरी रैंक पढ़कर मुझे दृढ़ विश्वास हो गया था कि मुझे आई.ए.एस. का पद मिलकर रहेगा! घर में स्मिता बड़ी आतुरता से मेरे फोन की राह देख रही थी, अतः सबसे पहले यह खुशी की खबर उसे सुनाई। वह बेहद खुश हो गई। अब यह खबर ताई को—अपनी प्रिय माँ को देने के लिए मैं बेहद आतुर हो उठा था। उसे फोन लगने तक मेरा गला भर आया था। आँखें खुशी से छलक रही थीं। जैसे ही मेरी प्यारी माँ ने फोन उठाया, मैं जोरों से चीखकर बोला “ताई, मी कलेक्टर व्हयनू!” यानी “माँ, मैं कलेक्टर बन गया हूँ!” रोते-रोते दो-तीन बार मैंने अपनी सफलता की खबर उसे दी। माँ की भी अतीव आनंद से हिचकियाँ बँध गई थीं। जो मुझे साफ-साफ सुनाई दे रही थीं। मुझे भी, आगे क्या कहूँ, सूझ न रहा था। अपने बचपन से मैं उसे 'कलेक्टर की माँ' कहकर चिढ़ाया करता था। आज वह सपना पूरा हो गया था। मन-ही-मन मैं गहरी संतुष्टि को महसूस कर रहा था। इसके तुरंत बाद मैंने यह खुशी की खबर भाऊ तथा बापू को भी दी।

घर में स्मिता बेसब्री से मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। मेरे घर से बाहर निकलते ही उसने भगवान् के पास दिया जलाया था और वह शिवजी की आराधना हेतु 'शिवलीला अमृत' का पाठ करने लगी थी। अपनी बिल्डिंग की पाँच मंजिलों को मैंने तेजी से पार किया। दरवाजा खोलते ही वह अपनी गर्भावस्था को भूल

गई और मुझसे लिपट गई। असीम आनंद देनेवाले वे पल मेरे लिए सदा के लिए अनमोल बन गए।

उसके बाद के कुछ दिन मेरे जीवन के 'संस्मरणीय दिन' साबित हुए। हम छुट्टी लेकर पंद्रह दिनों के लिए अपने गाँव 'ताड़े' जा पहुँचे। इसी दौरान जलगाँव, धूलिया के स्थानीय अखबारों में मेरी सफलता की खबर को अत्यंत प्रशंसनीय तरीके से विस्तारपूर्वक छापा गया था। महाराष्ट्र के मानचित्र पर भी अनजाना रहा मेरा गाँव ताड़े, अब पूरे जिले में प्रसिद्ध हो गया था और चर्चा का विषय बन गया। मेरा सारा गाँव उत्साह से भर गया था। मेरे तथा ताई-अन्ना के साक्षात्कार (इंटरव्यू) को स्थानीय अखबारों में अग्रिम स्थान दिया गया था। मेरे गाँव के गरीब तबके के निवासियों के चेहरों पर मुझे अनोखी खुशी के दर्शन हुए। कोई अपना करीबी रिश्तेदार ही इतनी बड़ी ऊँचाई को छू रहा है, यही भावना उनके चेहरे से झलक रही थी। समाज के तमाम स्तरों से, खास तौर पर उपेक्षित समाज से मुझे अनगिनत बधाई के पत्र भी मिले। मुझे अपना जीवन वाकई धन्य लग रहा था। मन में विचार आया कि मुझ जैसी परिस्थिति में पल-बढ़ रहे, जूझ रहे, युवकों को यदि मुझसे प्रेरणा मिलती है, उनके अंदर, मेहनत और ईमानदारी से मिलनेवाले अच्छे फल के प्रति मैं विश्वास का निर्माण कर पाया, तो मेरा जीवन भी सफल होगा, ऐसी मेरी भावना है।

बचपन में अन्ना के साथ मैं माहिजी नामक गाँव के हाट में सब्जी-भाजी का टोकरा लेकर जाता था। वहीं एक होटल में हम सेव-चिवड़ा खाते थे और चाय भी पीते थे। होटल का मालिक बड़े स्नेह से मेरी पूछताछ करता था। इतना छोटा लड़का, सर पर टोकरी उठाए इतनी दूर, पिता के साथ हाट में आता है, इस बात का उसे आश्चर्य लगता था। उसने जब अखबार में मेरी सफलता के बारे में पढ़ा, उस दिन उसने तमाम ग्राहकों को मुफ्त में चाय पिलाई थी। हमारा एक गाँववासी पेड़े बनाकर शहर में बेचने जाया करता था। मेरी सफलता की खुशी में उसने एक पेटी पेड़े गाँव में बाँटे और सभी का मुँह मीठा करवाया।

दिल्ली से अपने गाँव, जब मैं सफलता लेकर आया, गाँववालों ने मेरी शोभा-यात्रा का भी आयोजन किया। आगे बैड-बाजा और पीछे लोगों का लंबा जुलूस, शोभायात्रा की शान बढ़ा रहा था। प्रत्येक घर के दरवाजे पर महिला मेरी आरती उतार रही थीं और मैं नतमस्तक होकर उनके चरण छूकर आशीर्वाद ले रहा था। इस शोभायात्रा में मेरी आँखें कृतज्ञता एवं अपार स्नेह से नम हो रही थीं। मन बार-बार कह रहा था कि, 'क्या वाकई तुम्हारी इतनी पात्रता है भी? लोगों की अपेक्षाओं का भार वहन करने की क्षमता है तुम में।'

इससे पहले जब मैं अपने पास होने की बात के विचारों में खोया रहता। तब प्रमुख रूप से यह कल्पना मन में आती थी कि जब मेरी सफलता की खबर अखबार में छपेगी, लोगों को पता चलेगा, चर्चा भी होगी, तब इस बात को कभी भी सोचा नहीं था कि मेरा गाँव, ऊँच-नीच की दीवार को तोड़कर इतने बड़े पैमाने

पर मेरा स्वागत करेगा, सत्कार करेगा। जीवन की यह उपलब्धि मुझे आजीवन प्रेरणा देती रहेगी, इसमें कोई शक नहीं!

पिछले तीन-चार वर्ष मैंने बड़ी बेचैनी में गुजारे थे। असंतोष के बादल निरंतर सिर पर मँडराते रहे थे। परंतु अंत में 'लक्ष्य' प्राप्त करने, मन के लायक नौकरी मिलने और अच्छा काम करने के अवसरों ने मुझे असीम संतोष प्रदान किया। मेरी सारी अस्वस्थता को हर लिया।

जब मेरे मन में अपने अब तक के जीवन प्रवास का विचार आया, तब ध्यान में आया कि यह सफलता सिर्फ मेरी अपनी सफलता नहीं हैं, वरन् मेरे आस-पास के उन सभी लोगों की है, जिन्होंने समय पर मेरी जरूरतों को जाना और मेरे कंधे पर हाथ रखा...कभी मुझ पर विश्वास की, वास्तव में तो कभी अपने असीम स्नेह की चादर ओढ़ाकर मेरे मार्ग में बिछे काँटों को हटाया, उन सभी की यह सफलता है। चंद्रगुप्त, हर्षवर्धन, शिवाजी महाराज, राणा प्रताप, भगतसिंह जैसे ऐतिहासिक व्यक्तित्वों से मैंने हमेशा स्फूर्ति पाई है। जीवन में कुछ में अच्छा करने की प्रेरणा इन सभी ने मुझमें भर दी थी। जब कभी मैं निराशा से भर जाता, इन महान् व्यक्तियों के पुरुषार्थ ने, जीवन चरित्र ने, मेरे लिए संजीवनी बूटी का काम किया। उनकी गाथाओं ने मेरे अंतःकरण को प्रेरणा दी थी, अतः उनके चरित्र मैं बार-बार पढ़ता था।

मुझे बचपन से किस्से, कथाएँ पढ़ने में गहरी रुचि रही है। यानी पढ़ने का शौक इतना कि परचून की पुडिया का कागज हो अथवा मिठाई की पुडिया का, उसे भी मैं अवश्य पढ़ता था। मेरे कठिनाई भरे जीवन में तमाम पुस्तकें मेरा सहारा बनी थीं। वे मुझे आनंद प्रदान करतीं और नए सपनों के संजोने में मेरी सहायता करतीं। कभी उन पुस्तकों में लिखे किस्से, अनुभव मुझे सोचने-विचारने पर बाध्य करते, कभी मेरा खून खौलाते, तो कभी मुझे रुला भी देते थे।

मेरे स्कूली जीवन के दौरान मैं अखबार पढ़ता था और मासिक पत्रिकाएँ भी। शिवाजी, महाराणा प्रताप, रामायण, महाभारत आदि की वीर गाथाएँ मुझे खूब अच्छी लगती थीं। शिवाजी के असाधारण साहस के साथ-साथ मुझे उनकी दिलेरी एवं पराक्रमों का बड़ा आकर्षण था। उनकी उदार धार्मिक नीति का मुझ पर गहरा असर रहा। वीरों की वीर गाथाओं की बहुत सारी पुस्तकें मैंने पढ़ी थीं।

अपनी किशोरावस्था में मुझे इतिहास के साथ-साथ महात्मा फुले, गांधी, आंबेडकर आदि पर लिखीं पुस्तकों का भी आकर्षण था। स्वतंत्रता सेनानी सावरकर, भगतसिंह आदि से भी मैं खूब प्रभावित रहा। गांधीजी के सत्य एवं अहिंसा के विचार मेरे मन में गहरे पैठ गए थे। उनका साहित्य तथा उनके आचरण में नीहित शुद्धता का गहरा प्रभाव रहा मुझ पर। तमाम स्वतंत्रता सेनानियों के विचारों ने, उनका अपनी मातृभूमि तथा देशवासियों के प्रति उपजा निस्स्वार्थ प्रेम और इसी प्रेम के खातिर दिए गए बलिदान आदि में मुझे मेरी उस कच्ची उम्र में अत्यधिक प्रभावित किया था। इन महान् लोगों के विचारों में

समाए तमाम भारतीयों एवं सर्वधर्मीय सहिष्णुता के भाव मेरे मन में गहरे उतरते गए। इसी का असर यह रहा कि आगे चलकर मेरे जीवन में संकुचित धार्मिक एवं प्रांतिक विचारों को कभी कोई स्थान नहीं मिल पाया। भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद, राजगुरु आदि महान् लोगों के राजकीय विचारों से बढ़कर उनके सच्चे देशप्रेम एवं बलिदान का गहरा असर मुझ पर था। इस सारे आकर्षण के बावजूद हिंसा के मार्ग को अपनाने का विचार मेरे मन में कभी भी न आया।

मुझे अपनी युवावस्था में सर्वाधिक प्रभावित करनेवाले महान् लोग थे—महात्मा ज्योतिबा फुले एवं स्वामी विवेकानंदजी। फुलेजी द्वारा किया स्पष्ट धार्मिक विश्लेषण पढ़कर धार्मिक दृष्टि से विश्व को परखने की दृष्टि मुझे मिली। स्वामीजी के विचारों ने एक अनोखी आध्यात्मिक दृष्टि प्रदान की। इन दोनों महानुभावों के विचारों ने मेरे मन पर आरूढ़ धर्म की संकल्पना को मिटा दिया और सामाजिक समस्याओं की ओर देखने की मेरी दृष्टि को भी बदल डाला।

इन लेखकों के साथ-साथ मराठी के जाने-माने लेखकों के साहित्य ने मेरी दुनिया की ओर देखने की दृष्टि को बदल दिया। उसने उसे व्यापक भी बनाया और मेरे भावविश्व को समृद्ध भी किया। ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित कवि-लेखक कुसुमाग्रज, नारायण सुर्वे की कविताएँ, लक्ष्मण माने, आनंद यादव, दया पवार आदि के आत्मचरित्र ने मेरे मन में स्थान पक्का कर दिया। जानेमाने लेखक, नाटककार, संगीतकार, कलाकार तथा समस्त कलाओं के ज्ञाता श्री. पु.ल. देशपांडेजी भी मेरे आदर्श रहे हैं। इनके साथ कई और लेखकों ने मेरे जीवन में प्रेरणा भर दी और कठिन मार्ग से आगे बढ़ने की हिम्मत भी दी।

ऐतिहासिक महान् चरित्रों, महान् लेखकों के साथ-साथ सिनेमा से जुड़े कुछ व्यक्तियों से भी मुझे प्रेरणा मिली है। खेल के मैदान में अपने खेल के बेजोड़ प्रदर्शन करनेवाले खिलाड़ी भी मेरे आदर्श रहे हैं। लांस आर्मस्ट्रांग जैसे कैसरप्रस्त खिलाड़ी ने 'टूर द फ्रांस' साइकिल स्पर्धा को जीतकर मेरे अपने कार्य के प्रति विश्वास और क्षमता को दृढ़ बनाया है। मुझे इन सभी ने यही विश्वास दिलाया है कि सफलता के शिखर पर पहुँचने के लिए अपने आप पर दृढ़ विश्वास रखें, तब जीवन में 'असंभव' कुछ भी नहीं है। बशर्ते मार्ग सही चुना जाए।

आज मैं जिस मकाम पर पहुँचा हूँ, उस मंजिल की पक्की नींव मेरे श्रद्धेय ताई-अन्ना ने रखी है और कई अन्य लोगों ने उसके लिए ईंटों की आपूर्ति की है। मेरे जीवन को सही तरीके से सँवारने का सर्वाधिक श्रेय मेरे चचेरे भाई 'बापू' को है। मेरे बचपन से मेरा यह भाई हर परिस्थिति में मेरा सहारा बना रहा है। अब भी वह अपना दायित्व निभा रहा है। बचपन में मेरी परेशानी, घुटन को वह खूब अच्छी तरह से समझ लेता था और मुझे समझा-बुझाकर मेरे पंख में ऊँची उड़ान भरने का बल भी वही दिया करता था। मेरी तमाम छोटी-मोटी जरूरतों को बापू ने ही पूरा किया है। वह मुझे मेरा अच्छा दोस्त भी लगता था, इसीलिए उससे सारी

बातें खुलकर कहने की मेरी आदत बन गई थी। मेरी क्षमता से बढ़कर जब कोई अपेक्षा वह मुझसे रखता था उसे पूरा करने का प्रयत्न मैं जी-जान से करता था, इसमें मुझे आनंद आता था। मेरी तकलीफों में वह हमेशा मेरे साथ रहा है। उसके समूचे व्यवहार से मुझे इस बात का आभास होता था कि 'बापू' के जो सपने अधूरे रह गए थे, उन्हें वह मेरे माध्यम से पूरे करने के प्रयास में था। बड़ी खुशी होती थी मुझे इस दिशा में काम करते हुए।

मेरे बड़े जीजाजी बापू पाटील तथा मेरी जीजी (अक्का) की छत्र-छाया में मेरे स्कूल तथा महाविद्यालयीन दिन बीते थे। जीजी की गृहस्थी भी पैबंद लगी कथरी सी थी। इसके बावजूद वह पाई-पाई जोड़कर हम भाई-बहनों की मदद करती थीं। कभी-कभी ऐसी भी स्थिति आ जाती थी कि दीदी के घर जाने में लगनेवाले किराए जितने पैसे भी हमारे पास नहीं होते थे। वह बेचारी पता नहीं कितनी मुश्किलों से दो-चार रुपए बचा पाती होगी, सिर्फ अपने भाई-बहनों की मदद हेतु! परंतु जीजी और जीजाजी हमारे परिवार का हर तरह से सहारा बने हुए थे। बारिश शुरू होने से पहले यदि अन्ना के पास बीज और खाद के लिए पैसे न जुट पाते से तब वह दोनों भरसक मदद करते थे। मुझे तो जीजाजी हमेशा से मेरे बड़े भाई लगते रहे हैं। वे पुलिस अधीक्षक साहब की गाड़ी के ड्राइवर थे, अतः अपने साहब लोगों से मेरी प्रशंसा करते थे। इसी के फलस्वरूप हमारी जान-पहचान कई साहब लोगों से हो गई थी। जीजाजी का मुझसे इतना अधिक स्नेह रहा है कि उन दोनों ने हमारे परिवार की परेशानी को अपनी समस्या समझकर सुलझाया है। सच कहता हूँ कि यदि उन दोनों का सहारा न होता तो पता नहीं हम कहाँ होते? क्या होते? इस कल्पना मात्र से शरीर पर रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

मेरा जिगरी दोस्त संग्राम पाटील और उसकी पत्नी नूपुर पाटील, मेरे जीवन का एक अविभाज्य अंग हैं। मेरे बचपन से संग्राम मेरी प्रत्येक हार-जीत का साक्षी है। उसने मुझे कितनी ही अच्छी बातों से परिचित करवाया। मैं पहले भी कह चुका हूँ कि मेरे बचपन में जब वह पहली बार मुझे मिला था, मेरे गाँव के किसी भी छात्र की तरह वह गाँव-खेड़े से आया लड़का है, ऐसा लगा ही नहीं। हमारी तुलना में हर तरह से वह ऊँचे परिवार से आया लड़का प्रतीत होता था। जीवन में सिर्फ अच्छे ही सपने देखना, अपनी क्षमता पर पूरा विश्वास रखना मुझे संग्राम ने ही सिखाया। बचपन में अपने ही वयस का, अपनी ही कक्षा में पढ़नेवाला एक छात्र जब किसी दूसरे छात्र की प्रेरणा बन जाता है, उसका सही मार्गदर्शक भी बन जाता है, तो ऐसी क्षमता विरलों में ही पाई जाती है और मार्गदर्शन पानेवाला जब सर्वार्थ से सफलता प्राप्त कर लेता है, तब यह मिसाल अनुपम सिद्ध होती है। इसी का जीता-जागता उदाहरण है राजेश पाटील और संग्राम पाटील। संग्राम ने अपने मार्गदर्शन में मेरे ऊँचे स्वप्न के पूरे होने तक मानसिक समर्थन दिया। चिकित्सक तथा सेवाभावी वृत्ति का मार्ग दिखाया। संग्राम में निहित समाज तथा देश के प्रति उपजी छटपटाहट को मैंने कब और

कैसे अंगीकृत किया, पता नहीं! उसके साथ वैचारिक स्तर पर एकरूपता को कब साध लिया, पता नहीं। अंतरजातीय विवाह के उसके निर्णय की वजह से, पारिवारिक स्तर पर जो अंधड़ उसके जीवन में आया, उससे उसका जीवन दोलायमान स्थिति में आ गया था। ऐसे कठिन समय में एक-दूसरे का साथ हमने पूरी दृढ़ता निभाया। हम एक-दूसरे का सहारा बन गए थे। यह पड़ाव हमारे लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। ग्रामीण इलाके में अस्पताल बनवाने के इरादे से लेकर सामाजिक बदलाव के लिए जनजागृति के प्रयत्नों में हमारे विचार समान रहे हैं। उसका निस्स्वार्थ प्रेम ही मेरे मन में सामाजिक जागृति जगाने का मुख्य कारण है। यदि जीवन में संग्राम का प्रवेश न होता, तो पता नहीं मेरी नैया किन-किन तूफानों में भटक जाती!

मेरे और भी कई मित्र हैं जिन्होंने मेरे जीवन को समृद्ध बनाया। वामन तथा हिम्मत नामक मेरे बचपन के दोस्त भी मेरे सुख-दुःख में सदैव साझेदार रहे हैं। वामन प्राथमिक स्कूल में शिक्षक है और हिम्मत गाँव में खेती सँहाले हुए है। जब भी मैं छुट्टी लेकर गाँव जाया करता, हमारे घरों से दूर शमशान में रात को हमारा अड्डा होता था। खूब गप-शप होती थी।

हिम्मत गाँव की तमाम खबरें मुझे देता था। मैं भी उससे अपनी पढ़ाई, परीक्षा तथा समस्याओं की खुलकर चर्चा कर लेता था। उनकी प्रतिक्रियाओं से तथा उनके मेरे प्रति दृढ़ विश्वास से मुझे नया जोश मिल जाता था। भले ही वे मेरी हर समस्या को पूरी तरह से समझ न पाते थे, परंतु उनके प्रोत्साहन से मैं उल्लसित हो जाता था। हिम्मत से अपनी पढ़ाई की चर्चा इतनी लंबी और गहरी होती थी कि यू.पी.एस.सी. तथा ऐसी ही समकक्ष परीक्षाओं के प्रति उसका ज्ञान इतना बढ़ गया है कि वह अन्य लोगों को सरलता से मार्गदर्शन कर सकता है। गाँव में मेरी प्रतीक्षा करनेवाले मेरे माता-पिता के साथ हिम्मत का भी नाम जुड़ता है। इन दोनों के अलावा अशोक पिंगले जो सेवाभावी संस्थानों में कार्यरत है। अध्यापक बना अशोक भावले, प्राइवेट कंपनी में काम करनेवाला जलिल तथा कस्टम विभाग में काम करनेवाले नीलकंठ शेलके ने, मेरी डूबती नौका को तूफानों से बचाया है। मुझे सहारा दिया है। मेरा चचेरा भाई है 'दादा', जिसने मुझे स्पर्धा परीक्षाओं से परिचित करवाया, उसने भी इन परीक्षाओं का सामना किया है, अतः उसकी पुस्तकें मैं बहुत पहले से पढ़ने लगा था। शायद मेरी सातवीं-आठवीं कक्षा से ही मैंने उन्हें पढ़ना आरंभ कर दिया था। अतः जिस अनोखी सफलता से मेरी झोली आज भर गई है, वह सफलता एक समुदाय का प्रतिनिधित्व करती है, उसका अस्तित्व मात्र उस वातावरण के संदर्भ, में ही लेना चाहिए, ऐसा मेरा मानना है।

अब प्रसिद्धि के बादल धीरे-धीरे छँटने लगे और वास्तविकता का भान आने लगा। अपने आई.ए.एस. होने की सत्यता का अनुभव करने में कुछ दिन बीत गए। उन तीन सुनहरे अक्षरों का जादू चलना आरंभ हो गया। इससे पहले मैं

गुरूप 'ए' अधिकारी ही था, परंतु आई.ए.एस. नहीं था। गाँव का हर व्यक्ति मुझे 'राम-राम' करने लगा। सलाम भी करने लगा। कहीं भी निकलते समय लोग मेरी ओर निर्देश करते हुए कुछ फुसफुसाने लगे थे। आस-पास के छोटे नेतागण मेरे साथ 'फोटू' खिंचवाने में तत्पर दिखाई देने लगे।

बेचारे गरीब अनपढ़ गाँववासी 'कलेक्टर' का मतलब समझ नहीं पाए। अतः मैं उनकी किन-किन समस्याओं को सुलझा सकता हूँ अथवा किन-किन को नहीं, इसे जानने की उत्सुकता उनके मन में अवश्य थी। वे इस भ्रम में भी थे कि कलेक्टर बनते ही मेरा पैदल चलना दूसरे दिन से थम जाएगा। मुझे तुरंत मोटरगाड़ी मिल जाएगी। मेरे वेतन के बारे में वे जानने को उत्सुक रहते। मेरी इस सफलता ने उन्हें अनोखा गर्व प्रदान किया था। दूसरे गाँवों में ब्याही मेरे गाँव की लड़कियाँ, मेरे बारे में अपनी ससुराल में गर्व से सब कुछ बयान करने लगी थीं। कई बार ऐसा भी हुआ कि किसी समारोह में मुझे कुछ बयान करने की जरूरत नहीं पड़ती थी, क्योंकि अन्य कई लोग पहले ही सारा बखान कर चुके होते थे। जिले के तमाम स्तरों से मेरी सफलता का गौरवगान हुआ था। सफलता के इस दौर में कई लोगों ने जातीयता की राजनीति को भी उछाला। जातिवाद पर आधारित किन्हीं संगठनों ने मेरे घर आकर मुझे हार्दिक बधाइयाँ भी दीं और जिस जातिवाद से मैं शुरु से कोसों दूर रहा हूँ, उसी के प्रति मुझे सजग रहने का मार्गदर्शन भी किया।

गाँव में कई मजेदार किस्से भी हुए। मेरे घर के सामने रहनेवाले एक सज्जन अपने बेटे की शिकायत लेकर मेरे पास आए थे कि वह घर के सभी सदस्यों को खूब परेशान करता है। उन्होंने इस समस्या का हल मुझसे जानना चाहा। मेरे कई (दूर के भी) रिश्तेदार अपने युवा बेटों की नौकरी की सिफारिश लेकर भी हाजिर हो गए थे। इन सभी को समझना बड़ा ही मुश्किल काम था।

बचपन से मैं बड़ा ही झेंपू किस्म का आदमी रहा हूँ। जीवन के हर पड़ाव पर अत्यधिक कठिन समस्याओं से जूझा हूँ मैं। इसके बावजूद इनसान की अच्छाई पर मेरा पूरा विश्वास बना रहा। गाँव से बाहर पढ़ाई के लिए इसलिए निकला, तब मन में सिर्फ एकाध छोटी-मोटी नौकरी की आस पनप रही थी। जीवन में इतनी ऊँची, आई.ए.एस. की उपाधि प्राप्त करने से मेरी प्रतिष्ठा में चार चाँद लग गए थे। जीवन के नैतिक मूल्यों पर मेरा पूरा विश्वास था, अतः अब सर्वाधिक खुशी इस बात की हो रही थी कि, अब मैं आम लोगों के लिए कुछ काम कर पाऊँगा! प्रत्यक्ष रूप से उनकी समस्याएँ, अड़चनें दूर करने का मौका भी मुझे मिलेगा। इससे अधिक की चाह मुझे थी नहीं। मन में डर इसी बात का था कि मेरे अंदर काम करने की जो गहरी इच्छा है और काम करने के लिए लगनेवाली जो नम्रता है, क्या वे सदैव मेरे साथ रह पाएंगी या नहीं?

अब जीवन का एक नया अध्याय शुरू हो गया था। अपना मनचाहा काम करने का अवसर मुझे आह्वान दे रहा था और पूरी नम्रता के साथ उसे मैंने स्वीकारा भी था।

स्पर्धा परीक्षाओं का ढाँचा देखने के पर एक बात ध्यान में यह आती है कि यहाँ सफलता प्राप्त करने के लिए आपको अच्छा विद्यार्थी नहीं, वरन् एक उम्दा परीक्षार्थी होना अनिवार्य है। परीक्षा को समझ लेना महत्वपूर्ण है। यदि कोई प्रत्याशी इसमें असफल होता है तो वह, जिस पद्धति से प्रत्याशी की क्षमता को जाँचा-परखा गया है, उस दृष्टि से वह असफल है। अतः उसकी असफलता उसकी सर्वांगीण असमर्थता का निदर्शक नहीं है, वरन् उम्मीदवार की उस 'खास' क्षमता की असमर्थता को उजागर करती है। इस प्रकार का विश्लेषण मुझे मेरी असफलता से सँभलने में मददगार सिद्ध होता था और इस बात का यकीन दिलवाता था कि आई.ए.एस. के बाद भी जीवन बाकी है।

जैसे-जैसे मेरी समझ बढ़ती गई, मुझ पर महात्मा फुले, आंबेडकर, विवेकानंद, महात्मा गांधी तथा आगरकरजी के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ता गया। फुलेजी के निरीश्वरवादी विचार तथा आगरकरजी के बुद्धि-प्रामाण्य विचार मुझे तमाम बातों (मुद्दों) के प्रति प्रश्न पूछने को बाध्य करने लगे। उनके तर्कशुद्ध विश्लेषण की वजह से मेरी वैचारिक गुत्थी सुलझने लगती थी। बुद्धि-प्रामाण्यवाद की कसौटी पर मुझे प्रश्नों के सटीक जवाब मिलते गए। उन विचारों को स्वामी विवेकानंद के मनुष्य केंद्रित विचारों का समर्थन भी मिलता गया। इसी के फलस्वरूप आगे मैं निरीश्वरवादी बनता गया और उससे अधिक विश्वास मुझे मनुष्य की सामर्थ्य पर होने लगा। सर्वेसर्वा ईश्वर, गॉड अथवा अल्लाह, मानव की मात्र श्रद्धा नहीं है, वरन् वह विश्व के तमाम प्राणिमात्र में निवास करता है। अतः दीन-दलितों के चरणों में अर्पित सेवा को मैं सच्ची आराधना मानता हूँ। घंटों बैठकर पूजा, आराधना, जाप करने के बजाय जरूरतमंद लोगों के लिए काम करने से, उन गरीबों के चेहरों पर जो खुशी छलकती है, जो संतोष दिखाई देता है, वही मेरे लिए अधिक महत्वपूर्ण है। मुझे नहीं लगता है कि ईश्वर के अस्तित्व को अनुभव करने का कोई दूसरा मार्ग है।

आगे चलकर मेरे विचारों का मजबूत पाया 'कर्मवाद' बन गया। मुझे लगता रहा है कि जीवन में अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उचित दिशा में सही किए गए प्रयत्न हमें उस तक पहुँचा सकते हैं। 'भाग्य' का अपने जीवन पर कोई प्रभाव नहीं होता है, ऐसा मेरा मानना है। 'भाग्य' का विचार करना भी व्यर्थ है। हम अपनी असफलता का दोष भाग्य के माथे थोपते हैं और अपनी त्रुटियों की ओर अनदेखी करते हैं। इससे बेहतर होगा कि हम अपने काम पर विश्वास करें और निरंतर प्रयत्नशील रहें, तब समस्याओं का समाधान अवश्य मिलकर रहेगा। यानी भाग्य हमारी ओर झुक जाता है और हम अपने ध्येय को साध्य कर लेते हैं। गांधीजी के विचारों को पढ़ने के बाद मेरी श्रद्धा सत्य, अहिंसा में बढ़ गई।

उनके स्वच्छ और सकारात्मक विचारों ने मुझे निरंतर आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। प्रतिकूल परिस्थिति में गांधीजी ने जिस तरीके से जनमानस को एकत्रित किया, उससे मुझे विश्वास हो गया कि जीवन में किसी भी सामाजिक कार्य को पूरा किया जा सकता है। साथ ही मैं जात-पाँत, धर्म, प्रांत जैसे संकुचित विचारों से बहुत दूर निकल गया।

बचपन के मेरे समस्त अभावों की वजह से मेरे मन में लोक कल्याण का विचार जागा और अच्छी कहानियाँ, चरित्र पढ़ने की वजह से राष्ट्रवाद तथा राष्ट्र का अर्थ भी मेरी समझ में आ गया था। आम लोगों के कल्याण में अपना जीवन समर्पित करने की भावना भी जागी और उम्र के साथ उस विचार में सुधार होता गया। आधुनिक दौर में फैले भोगवाद संस्कृति के चलते भी लोकसेवा का विचार मन में दृढ़ बना रहा। बात यहीं खत्म नहीं होती है, मुझे सिर्फ 'अपने लिए जीना और किसी काम को सिर्फ पैसों के लिए करना' घृणास्पद भी लगने लगा। इसी विचार ने जीवन को अच्छी दिशा भी दी। धार्मिक, प्रांतीय तथा जातिवाद से मैं दूर रह सका। मेरी कार्यनिष्ठा ही मुझे राष्ट्रनिष्ठा के तथा जनेन्द्र के स्तर पर ले गई।

उम्र के दसवें-बारहवें वर्ष से मुझे पुस्तकें पढ़ने में आनंद आने लगा। मेरे छोटे से गाँव में भी एक अदना-सा वाचनालय था, जहाँ मैं अखबार में 'प्रमुख समाचार' पढ़ लेता था। एरंडोल से संपर्क बढ़ने पर वहाँ स्थापित 'स्मृति वाचनालय' में जाकर अब विस्तार से समाचार पढ़ने का चस्का लग गया था। मुझे सिनेमा की खबरों में तथा 'खेल समाचार' में सर्वाधिक रुचि थी।

आगे चलकर मेरा, अवांतर कुछ पढ़ने का चस्का इतना बढ़ गया की उसने 'नशे' का रूप धारण कर लिया। यदि किसी दिन मुझे कुछ पढ़ने को न मिला तो शराब के अभाव में शराबी की जो हालत हो जाती है, बस, मेरी भी वही दशा हो जाती थी। किशोरावस्था में कुछ महान् कार्य करने के मंसूबे बनने लगे और अपरिपक्व बुद्धि के चलते मेरे पढ़ने का चस्का और बढ़ता गया। अखबारों, पुरानी पत्रिकाओं, जिन कागजों की पुडियों में सामान बँधकर आता था, उन कागजों को भी पढ़ने की जिद सी रहने लगी।

समय के साथ मेरे पढ़ने के स्तर में बदलाव आने लगा। उम्र के साथ मेरे उद्देश्य बदलने लगे और मेरा वाचन मेरे 'लक्ष्य' की ओर केंद्रित होता गया। मुझे सनदी परीक्षाओं से संबंधित पुस्तकों के पढ़ने में आनंद आने लगा।

जैसे-जैसे मेरी समझ बढ़ती गई, मैं उस साहित्य को पढ़ने लगा, जो मेरी बौद्धिक क्षमता को बढ़ावा देनेवाला था तथा मेरी व्यथाओं, वेदनाओं को निरस्त करने में सहायक होता था। वीर पुरुषों के चरित्र, वैचारिक ग्रंथों से मेरे अच्छे वाचन की शुरुआत हुई और फिर मैं दलित, ग्रामीण तथा उपेक्षित वर्ग की व्यथाओं को प्रस्तुत करनेवाले साहित्य की ओर मुड़ गया। इस प्रकार के वाचन ने मुझे निरंतर आगे बढ़ने की स्फूर्ति भी दी। सशक्त लेखकों के मौलिक साहित्य ने

मेरे मन में कुछ कर दिखाने की लौ भी जगाई। साथ ही उचित कार्यप्रणाली का ढाँचा मन में तैयार होने लगा। वैचारिक मंथन ने जीवन को सही दिशा दिखाई।

दरअसल मुझे शौर्य, पराक्रम आदि का बड़ा आकर्षण रहा है, अतः कुछ अलग कर दिखाने की लगन भी मन में दृढ़ होती गई। मन में समाया डर और संकुचितता निरस्त हो गई। इस सबका एक बड़ा ही मजेदार असर यह भी रहा कि मुझे ऐसा लगने लगा कि मेरा जन्म किसी अद्भुत, अद्वितीय कार्य हेतु ही हुआ है। ऐसा कुछ किए बगैर इस दुनिया से मुझे विदा नहीं लेनी है आदि! पागलपन भरे इन विचारों ने एक सही काम यह कर दिया कि मेरे मन से डर को भगाकर मुझमें निडरता भर दी और मेरे हाथों कुछ 'विपरीत' काम न होगा, इस विश्वास को जगाया।

इसी के चलते मुझे एक किस्सा याद आया। उस समय मेरी उम्र करीब बारह वर्ष की थी। नासिक से लौटने में कुछ देर हो गई थी। माहिजी गाँव के पास पहुँचा, तब रात के नौ बज चुके थे। वहाँ से ताड़े जाने के लिए कोई वाहन उपलब्ध होना कठिन था। सबसे भयानक बात यह थी कि मैंने अपने बचपन से सुन रखा था कि पुलिया के पास भूतों का डेरा है। मेरे दुर्भाग्य से वह अमावस की रात थी। चारों ओर घना अंधियारा छाया था। निर्जन राह! मैं पूरी हिम्मत से निकल पड़ा। नदी के पास पहुँचा तो पाया कि परले घाट पर एक चिता जल रही है। नदी के ठंडे जल में कदम रखते ही 'डुबुक' की ध्वनि गूँज गई। यह आवाज मेरे ही चलने की थी; परंतु पता नहीं कैसे, मन में एक दृढ़ विश्वास जागा कि मुझे कुछ भी न होगा। मैं धीरे-धीरे आगे बढ़ता गया। बस! उसी पल से मैं हमेशा के लिए एक निडर इनसान बन गया।

बारहवीं तथा महाविद्यालयीन पढ़ाई के समय मुझे इस बात का भी भान हो गया कि मेरा 'लक्ष्य' बहुत दूरी पर स्थित है और उसे प्राप्त करने के लिए मुझे एक साथ कई बातों को साध्य करना परम आवश्यक है। जिन महान् लोगों के चरित्रों को मैंने पढ़ा था, उन्होंने अपने जीवन में अनुशासन और समय को बड़ा महत्वपूर्ण माना था। इनके बगैर लक्ष्य प्राप्त करना कठिन है, इसे मैं जान गया था। फिर इन्हीं आदतों का मैंने अभ्यास किया। व्यायाम, पढ़ाई तथा अवांतर वाचन के बीच की नियमितता को मैंने बनाए रखा, जिसका लाभ मुझे अवश्य हुआ।

वर्तमान काल का यह जीवन गहमा-गहमी से भरा हुआ है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जानलेवा स्पर्धा निर्मित हो गई है। अच्छे स्कूल में, महाविद्यालय में, इंजीनियरिंग अथवा चिकित्सा शाखा में दाखिला पाने के लिए भी पूर्व तैयारी करना अनिवार्य सा हो गया है। अच्छे नंबर प्राप्त करना बहुत जरूरी है। साथ ही आई.आई.टी., आई.आई.एम., एम.पी.एस.सी., यू.पी.एस.सी. आदि में भी स्पर्धा का स्तर उच्च कोटि का हो गया है।

आम-तौर पर एक गलतफहमी यह भी है कि जिन लोगों की शैक्षिक, आर्थिक एवं सामाजिक पार्श्वभूमि मजबूत है, सिर्फ उन्हीं परिवारों के युवकों को स्पर्धा परीक्षाओं में सफलता प्राप्त होती है। किसी हद तक यह बात ठीक भी है, परंतु पूरे तौर पर कदापि नहीं। मेरे विचार से किसी भी युवक की प्रगति के लिए उसकी गरीबी बाधक नहीं होती है। शुरू के कुछ दिनों (वर्षों) तक ही गरीबी का पढ़ाई पर असर रहता है, परंतु यदि किसी युवक की मानसिकता ही यह हो जाती है कि उसके पास पैसा नहीं है, इसलिए वह अपने इच्छित लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ है, तो यह सरासर उसकी भूल है। गरीबी की वजह से लाचारी तथा असहायता की भावना निर्मित हो सकती है, परंतु वह, उसका 'आलस' तथा उसके 'आत्मविश्वास के अभाव' को ही प्रकट करती है। जहाँ चाह है वहाँ राह भी अवश्य है। अपनी परिधि के बाहर का विचार करना महत्वपूर्ण है।

आज जिस तरीके से अपना सामाजिक एवं आर्थिक वातावरण बदल रहा है, उस वातावरण में जिसके पास साहस है, जो कड़ा परिश्रमी है और जिसके पास आत्मविश्वास है, उसे अनेक अवसर भी उपलब्ध हैं। इसी वजह से तरुणाई की प्रगति में आर्थिक अभाव का मुद्दा अब गौण माना जाना चाहिए। अपने अनुभवों के चलते मैं कहता हूँ कि गरीब परिवार के छात्रों को स्कूल तथा महाविद्यालयीन शिक्षा प्राप्त करते समय कई तरह की समस्याओं से सामना करना पड़ता है। कई छात्र आधी राह में ही पस्त भी हो जाते हैं और किसी सरल मार्ग को चुनकर उस पर निकल पड़ते हैं। इसी मोड़ पर सबसे बड़ी मानसिक लड़ाई से संघर्ष भी करना पड़ता है। यदि एक बार इस बाधा को पार कर लिया, तो फिर अगली यात्रा के लिए बल मिलेगा। इस नई राह पर खूब ध्यान से आगे बढ़ना होता है।

कई बार सही जानकारी के अभाव में अथवा समाज में फैले गलत प्रचार की वजह से इन छात्रों को लगने लगता है कि चारों ओर अनीति, भ्रष्टाचार एवं सिफारिश का ही बोलबाला है। इस सब में मेरी कैसे निभेगी? फिर इसी अनुमान के चलते वे निराशा से घिर जाते हैं।

ऐसे समय में उन्हें सावधानी से मार्ग पर आगे बढ़ना चाहिए। क्या सच है और क्या झूठ है, इसे परखना होगा। चिकित्सक दृष्टि रखनी होगी। मोटे तौर पर किसी बात का अनुमान लगाना, अपनी परिस्थिति को दोष देना और कमजोर मन से पीछे लौट आना तो वाकई बहुत बड़ी गलती है। कुछ छात्रों की बेजोड़ सफलता अथवा असफलता भी आस-पास की तरुणाई पर गहरा असर डाल सकती है। यदि किसी देहाती, अनपढ़ इलाके से कोई युवक उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेता है और उसके बाद जीवन में असफल हो जाता है, तब गाँव की समस्त तरुणाई पर उसका बहुत गहरा असर अवश्य पड़ता है।

किसी भी क्षेत्र में यशस्वी होने के लिए सबसे महत्वपूर्ण बात होती है आत्मविश्वास की। किसी लक्ष्य को प्राप्त करने की क्षमता का होना और साध्य करने की लगन जाग्रत् होना ही उस दिशा की ओर बढ़ने गया पहला सही कदम

होता है। अपने आप में उपजा आत्मविश्वास ही असफलता पर मात देने के लिए प्रेरित करता है, मदद करता है और दोबारा पूरे जोश से कार्य में भिड़ जाने पर मजबूर भी कर देता है।

एक बार सही राह पर निकल पड़ो, तब कड़े परिश्रमों से पीछे मत हटो! उचित दिशा में किए गए प्रयत्न मंजिल पर अवश्य पहुँचाएँगे। परिश्रम एवं सही दिशा की ओर बढ़ने से कोई समझौता न करें। यहाँ सिर्फ प्रयत्नों को कोई महत्व नहीं है। स्पर्धा के इस युग में, वस्तुतः कोई काम कितने समय में हुआ और उससे कितना (अधिक) लाभ हुआ, यही महत्वपूर्ण मुद्दा है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि सिर्फ 'मेहनत' मूल्यवान साबित नहीं होती है, वरन् सही दिशा में, सही तरीके से किए गए प्रयत्न ही सफलता दिलवाते हैं।

किसी भी उद्देश्य अथवा लक्ष्य को प्राप्त करने का कोई खास सूत्र (मंत्र) नहीं बना है, जिसे अपनाओ और सफलता पाओ! प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसके कार्य की शुरुआत और उसकी पार्श्वभूमि भिन्न-भिन्न होती है। अतः दो व्यक्ति यदि समान मेहनत कर रहे हैं, समान प्रयत्न भी कर रहे हैं, तब भी उन्हें समान स्तर की सफलता मिलेगी ही, ऐसा होना आवश्यक नहीं है। हमारे एक शिक्षक का वाक्य सदैव मेरे स्मरण में रहता है कि 'सफलता मात्र उसी को मिलती है, जिसे उसकी सर्वाधिक जरूरत महसूस होती है। और यही जरूरत उसके प्रयत्नों में प्रतिबिंबित भी होती है'!

जिन्हें यशस्वी होने की गहरी आस है, ऐसे युवकों को अपने 'उद्देश्यों' की ओर व्यावसायिक दृष्टि से देखना जरूरी है। जिस प्रकार से कोई कसाई बकरे को हलाल करते समय बकरे के प्रति भावुक नहीं रहता है अपितु अपना काम पूरी मुस्तैदी से करता है, ठीक उसी तरह हमें अपने उद्देश्यों की ओर भावुक दृष्टि से न देखते हुए, उन्हें प्राप्त करने के लिए सर्वांगीण प्रयत्नों के साथ उससे भिड़ जाना चाहिए। भावनात्मक गुत्थी और व्यर्थ का आत्मविश्वास हमें अपने उद्देश्य के सर्वांगीण विचार से वंचित रखता है और फिर हम असफलता के नजदीक पहुँचते जाते हैं।

समयोचित सूझ-बूझ तथा हिम्मत यदि उम्मीदवार के पास है तो उसकी उन्नति निश्चित है। समय से निर्णय करना और कार्य को पूरा करने की जिद रखना बड़ा ही महत्वपूर्ण है। जब हम आई.ए.एस. परीक्षा के बारे में निर्णय करते हैं, उस समय तीन बातों की ओर ध्यान देना बहुत ही महत्वपूर्ण है। उचित समय में ही परीक्षा देने का निर्णय पक्का करें, खूब सोच-विचार कर समय से, वैकल्पिक विषयों को चुनें और मार्गदर्शन क्लास में दाखिल होने का निर्णय शीघ्र करें। यदि इन सभी निर्णयों को समय से नहीं लिया गया तो उसका गहरा असर उम्मीदवार की सफलता अथवा असफलता पर अवश्य पड़ता है।

अब यदि आप किसी व्यावसायिक क्षेत्र को चुनते हैं, तब सबसे पहले उस क्षेत्र के लिए लगनेवाली उपयुक्त मानसिकता को स्वीकारना जरूरी है। ऐसा करने से

ही आप उन्नति के शिखर पर पहुँच पाएँगे। उपयुक्त मानसिकता के अभाव में, भले ही आप की कार्यक्षमता बढ़िया है, फिर भी आप अपेक्षित सफलता से दूर रह जाते हैं। ऐसा होने पर स्वाभाविक तौर पर आप निराशा से घिर जाते हैं और इस निराशा का असर काम पर पड़ने लगता है। इस दुष्चक्र को बनने ही न दें।

स्मरण रहे कि प्राइवेट कंपनियों में काम करने हेतु लगनेवाली मानसिकता अलग होती है। लोकभिमुख नौकरी की मानसिकता भी अलग होती है और निजी व्यवसाय में तरक्की लाने के लिए पूरी तरह से भिन्न गुणों को अपनाने पर ध्यान देना महत्वपूर्ण होता है।

□□□